काशीनाथ दर रचनावली

जे. एण्ड के. अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू

५८२

काशीनाथ दर रचनावली

काशीनाथ दर रचनावली

संकलन एवं सम्पादन

प्रो० चमन लाल सप्रू

जे० एंड के० अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू

काशीनाथ दर रचनावली

संकलन एवं सम्पादन
प्रो० चमन लाल सप्रू

J&K ACADEMY OF ART CULTURE & LANGUAGES

जे० एंड के० अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू

काशीनाथ दर रचनावली

संकलन-सम्पादन
प्रोफेसर चमन लाल सप्रू

© अकैडमी

प्रथम संस्करण–2000

मूल्य-55 रुपये

प्रकाशक

जम्मू-कश्मीर अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू

मुद्रक–रोहिणी प्रिंटर्ज़, कोट किशन चंद, जालन्धर।

Kashi Nath Dhar Rachnawali Edited and compiled by Prof. C. L. Sapru (A Collection of Hindi Writings of Prof. K. N. Dhar)

प्रकाशकीय

कालांतर में हमने मौलिक लेखन और अनुवाद को लेकर कई महत्वपूर्ण संकलन अपने पाठकों के नाम किये हैं। इधर 'काशीनाथ दर रचनावली' जैसी कृति भी हमारे उन्हीं प्रयासों का एक अन्य रूपायन है। जम्मू-कश्मीर राज्य के हिन्दी रचनाकारों में बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न स्मृति शेष प्रो. काशीनाथ दर को हिन्दी जगत एक कवि, आलोचक, अनुवादक, और अनुसंधाता के रूप में जानता है। प्रो. दर आजीवन विभिन्न रचनामूल्यों और विचार सरणियों को एक वृहत्तर फलक देने में जुटे रहे। देश, धर्म, दर्शन, संस्कृति, इतिहास, भाषा और साहित्य को लेकर प्रकृति, मनुष्य तथा जीवन-यथार्थ से जुड़े उनके सृजन कर्म में जो क्षितिज उद्घाटित हुए हैं वे एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में संकलित किये गये हैं ताकि उनके सृजन और संदर्भ के धरातलों पर समांतर प्रकाश पड़ सके। उनकी यथा उपलब्ध रचनाओं के संकलन एवं सम्पादन का श्रमसाध्य दायित्व हमने कश्मीर के प्रबुद्ध हिन्दी विद्वान प्रो. चमन लाल सप्रू को सौंपा था। उनके विशिष्ट सहयोग से ही इसका प्रकाशन संभव हो सका। हमें आशा है कि न केवल हिन्दी पाठक ही अपितु शोधार्थी भी इसे उपयोगी मानेंगे।

बलवंत ठाकुर
सचिव

प्रो० काशीनाथ दर

(1923–1984)

एक परिचय

प्रो० काशीनाथ दर का जन्म 24 नवम्बर, 1923 को श्रीनगर के रहबाबा साहिब मोहल्ला में हुआ था। यह मुहल्ला आलीकदल के पास वितस्ता के बायें तट पर है। इनके पिता का नाम पंडित सर्वानन्द दर और माता का नाम श्रीमती कमलावती दर था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा गुरगडी (गौरीगढ़) मोहल्ला के प्राईमरी स्कूल में हुई। बी० ए० तक की शिक्षा उन्होंने श्रीनगर में प्राप्त की। 1942 में बी०ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वह उच्च अध्ययन के लिए लाहौर चले गए। यहां उन्होंने डी० ए० वी० कॉलिज से एम. ए. संस्कृत की परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रसिद्ध हिन्दी लेखक मोहन राकेश उनके सहपाठी रहे हैं।

1946 में काशीनाथ दर ने लाहौर से लौटकर पुंछ के सरकारी कॉलिज के संस्कृत विभाग में प्रवक्ता के रूप में अपना अध्यापन कार्य आरम्भ किया। पुंछ में कॉलिज उन्हीं दिनों स्थापित हुआ था। अत: वहां अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित करने का उनको अच्छा अवसर मिला। लिखने, पढ़ने तथा ताश खेलने के अलावा दर साहिब की रुचि हॉकी खेलने में भी थी। 1947 में भारत-पाक युद्ध के समय जब पुंछ नौ महीने तक पाकिस्तानी घेरे में रहा, काशीनाथ जी को बड़ा कष्ट झेलना

पड़ा। इस मुसीबत का मुकाबला इन्होंने एक वीर साहसी के रूप में किया। युद्ध समाप्ति के बाद उनका स्थानान्तरण श्रीनगर के सुप्रसिद्ध एस० पी० कॉलिज में हुआ। इस कॉलिज में उन्होंने काफी समय अध्यापन किया। यहीं उन्होंने प्राईवेट तौर पर पंजाब विश्वविद्यालय सोलन/चंडीगढ़ से एम० ए० हिन्दी की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। कुछ समय गवर्नमेंट कॉलिज सोपोर में काम करने के उपरान्त इनका स्थानान्तरण अमरसिंह कॉलिज श्रीनगर में हुआ और फिर यहीं से सेवानिवृत्त हुए।

साहित्य साधना

अपने छात्र जीवन तथा अध्यापन के समय भी काशीनाथ दर का सम्बन्ध अनेक साहित्यिक और सामाजिक संस्थाओं के साथ रहा। कॉलिज जीवन में कॉलिज की पत्रिकाओं का सफल सम्पादन किया तत्पश्चात् कश्मीर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, श्रीनगर द्वारा प्रकाशित हिन्दी मासिक पत्रिका "कश्यप" के प्रधान संपादक रहे। यह पत्रिका ढाई वर्ष तक अबाध गति से प्रकाशित होती रही। इसके संपादकीय बड़े स्तरीय होते थे। उन सम्पादकीयों को यदि अलग से पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाए तो काशीनाथ दर जी की कुशल पत्रकारिता भी प्रकाश में आ सकती है। तत्पश्चात् जम्मू-कश्मीर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, श्रीनगर द्वारा प्रकाशित वार्षिक संग्रह 'नीलजा' के सम्पादक -मंडल में भी उनका बड़ा योगदान रहा।

उन्होंने शारदापीठ परमानन्द रिसर्च सेंटर, श्रीनगर के निदेशक के रूप में भी कई महत्वपूर्ण शोध ग्रंथों का सम्पादन किया। रेडियो तथा दूरदर्शन से भी इनके विद्वतापूर्ण आलेख प्रसारित होते रहे।

इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि हिन्दी, संस्कृत भाषा और साहित्य पर जैसा इनका अधिकार था वैसा ही कश्मीरी, उर्दू और अंग्रेजी पर भी था। अत: इन सभी भाषाओं में इन्होंने समान अधिकार से लिखा। हिन्दी, उर्दू और कश्मीरी कविता में भी इनकी गहन रुचि थी। इसीलिए यदा-कदा वह कविता भी रचते थे। समसामयिक विषयों पर वह बहस करने में बड़ी रुचि लेते थे और अधिकार के साथ किसी भी विषय पर अपनी विद्वत्ता की छाप छोड़ जाते थे।

काशीनाथ दर रचित साहित्य

1. श्रीवर कृत जैन राजतरंगिणी-(अंग्रेज़ी अनुवाद एवं टीका)
2. नीलमत पुराण-(हिन्दी अनुवाद सटीक)
3. नुन्दऋषि- ए रोजरी ऑफ हंडरड बीड्स-(अंग्रेज़ी)

4. नुन्द ऋषि इन्फ्ल्यूएंस ऑन कश्मीरी मिस्टिसिजम्-(अंग्रेज़ी)
5. वसुगुप्त शिवसूत्र-(सटीक अंग्रेज़ी अनुवाद)
6. अभिनवगुप्त कृत परमार्थ सार- सटीक (अंग्रेज़ी अनुवाद)
7. पंचस्तवी-(अंग्रेज़ी में भूमिका और टिप्पणियां))
8. कश्मीर- संस्कृति और साहित्य के परिवेश में (हिन्दी)
9. संस्कृत क्रानिक्लज एंड सुल्तानज ऑफ कश्मीर (अंग्रेज़ी)
10. भगवान गोपीनाथ जी- सेंट ऑफ आल टाईम्स (अंग्रेज़ी)

फुटकर

1. हिन्दूज़्म इन कश्मीर-(ज.क. सरकार का गज़ेटियर)
2. मिस्टिसिज़म इन कश्मीरी पोइट्री
3. ऋषि कल्ट ऑफ कश्मीर

उनके सहपाठी टाईम्स ऑफ इण्डिया के पूर्व उप सम्पादक टी० एन० कौल के अनुसार-काशीनाथ दर बचपन में उर्दू में "अफसाने" भी लिखते थे। विद्यार्थी जीवन में ही वह "टॉर्चलाईट" नामक 32 पृष्ठों की एक मासिक (हस्तलिखित) पत्रिका का भी सम्पादन करते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक नाटक-मंडली को भी संगठित किया था। मौलिक साहित्य रचना के अतिरिक्त इन्होंने अनेक पाठ्यपुस्तकों का भी सम्पादन किया। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा सम्पादित कश्मीरी-हिन्दी अंग्रेज़ी त्रिभाषा भाषा कोष के सम्पादक मंडल के अध्यक्ष के रूप में भी उन्होंने कोष साहित्य के निर्माण में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया।

कश्मीर की सांस्कृतिक धरोहर के गहन शोधार्थी विद्वान् प्रो० काशीनाथ दर ने संस्कृत और कश्मीरी भाषा की अमूल्य निधि के रत्नों से परिचित कराने का जो सतत् प्रयास किया वह निस्सन्देह आने वाली पीढ़ी के लिए प्रेरणादायक प्रमाणित होगा।

11 अप्रैल, 1984 को 61 वर्ष की आयु में इनका देहान्त हो गया।

-0-

विषय सूची

खण्ड–एक

देश, धर्म और दर्शन

1. वितस्ता–11
2. पंचस्तवी–26
3. शैवाचार्य अभिनवगुप्त–38
4. कश्मीर का ऋषि सम्प्रदाय–68

खण्ड–दो

संस्कृत और संस्कृति के ज्योति स्तंभ

5. इतिहासकार कल्हण–77
6. गीतकार बिल्हण–94
7. जनकवि क्षेमेन्द्र–106

खण्ड–तीन

कश्मीरी भाषा और साहित्य

8. लल्लेश्वरी का रचना संसार–127
9. लल्लेश्वरी के वाक्–अनुवाद समस्या–138
10. नुन्द ऋषि–व्यक्ति और अभिव्यक्ति–145
11. हब्बा खातून–व्यक्तित्व और कृतित्व–157
12. अब्दुल अहद आज़ाद–एक अध्ययन–169

खण्ड–चार

13. कश्मीर में हिन्दी प्रचार और प्रसार–एक सर्वेक्षण–189
14. प्रतिनिधि सम्पादकीय–200
15. हिन्दी कवितायें–204

खण्ड-एक

देश, धर्म और दर्शन

- वितस्ता–11
- पञ्चस्तवी–26
- शैवाचार्य अभिनवगुप्त–38
- कश्मीर का ऋषि सम्प्रदाय–68

वितस्ता

बहुत प्राचीन समय से नदियों की पवित्रता सर्वमान्य रही है। भारत के उत्तर में जब आर्यों का अधिकार दृढ़ हो चला तो नदियों के तटों पर ही नगरों तथा उपनगरों का निर्माण किया गया, क्योंकि इस सम्बन्ध में इन नदियों की उपयोगिता स्पष्ट थी। धीरे-धीरे इनके प्रति आभार-स्वरूप इन्हें देवी स्वरूप माना जाने लगा। इसी पृष्ठभूमि में हर एक नदी के साथ उसका माहात्म्य जोड़ा गया। जो कुछ भी हो, परन्तु इन नदियों का आर्थिक तथा सामाजिक महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता। वेदों में प्रकृति-पूजन का भी यही रहस्य है, ऋग्वेद में भी नदियों की महिमा का विशद वर्णन किया गया है।[1]

इसी सूक्त में गंगा, यमुना के साथ वितस्ता का भी वर्णन किया गया है। हम बिना किसी अपवाद के कह सकते हैं कि इस नदी के विषय में यह प्राचीनतम उल्लेख है। महाभारत में भी इस नदी की महिमा गायी गई है।[2] इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि यह नदी बहुत पुरातन काल में भी भारत में प्रसिद्ध थी, इस की पावनता गंगा, यमुना के समक्ष रखे जाने से स्पष्ट है।

कश्मीर में रचित 'नीलमतपुराण' इस प्रदेश का सर्वप्रथम भौगोलिक तथा सांस्कृतिक इतिहास माना जाता है, इसमें वितस्ता के उद्‌भव के सम्बन्ध में विशेष सामग्री मिलती है। इसे ''नीलजा'' अर्थात् नीलनाग की पुत्री, नाम भी दिया गया है। कश्यप ऋषि ने सतीसर के अथाह जल का निकास करवा के इस प्रकार अर्जित भूमि को कश्मीर का नाम दिया और इसका राज्य अपने पुत्र नीलनाग को सौंपा। इस तरह 'नीलपुत्री' -वितस्ता-इस राजा को अपनी उपादेयता के कारण बहुत प्रिय थी[3], कल्हण भी इस बात का समर्थन करता है।[4]

नीलमतपुराण और राजतरंगिणी के पृष्ठों पर वितस्ता का उद्‌गम तथा उद्‌भव इस तरह विस्तार से समझाया गया है, जब घाटी का सारा पानी रिक्त हो गया तो यह जलहीन-सी लगने लगी, कश्मीर का "निस्तोयं" बन जाना जीवन-यापन के लिए दुष्कर बनने लगा, यहां के आदि निवासी पिशाचों के साथ सम्पर्क होने के कारण भी "नाग" अपने आपको अपवित्र समझते थे, अतः जीवन को सुगम बनाने के लिए तथा नाग-जनता की शुद्धि के लिए वितस्ता का जन्म हुआ[5], ऋषि कश्यप ने भगवान शिव से प्रार्थना की कि वे अपनी प्रिया पार्वती को कश्मीर में वितस्ता के रूप में बहने की प्रेरणा दें।[6] देवी पार्वती ने अपने पति से अनुरोध किया कि वह भूमि में एक छेद करें ताकि उसमें से ही निकल कर वह प्रवाहित हो सके। इस पर भगवान शिव ने अपने त्रिशूल से नीलनाग के समीप ही धरती में छेद किया। यह छेद एक वितस्ति[7] के बराबर था, अतः इसी में से पार्वती ने वितस्ता का नाम धारण करके बहना आरम्भ किया। इसे यह नाम स्वयं शिव ने दिया। कल्हण स्पष्ट कहता है कि यह "नीलकुण्ड" गोलाकार था, जो नीलनाग का मानो राजसी छत्र था[8], इस कुण्ड का आकार इस समय अष्टकोणी है, जिसका कारण इसका समय-समय पर जीर्णोद्धार करना है, विशेषतः मुगलों द्वारा।

नीलमतपुराण में लगभग साठ नदियों का वर्णन है, परन्तु इनमें सब से ऊपर वितस्ता ही है।[9] नीलमत में इस नदी का दो बार अन्तर्हित होना भी बताया गया है, और इसने तब फिर से बहना स्वीकार किया जिससे इसे सिन्धु नदी के रूप में गंगा, गोदावरी के रूप में "गुदर" और लक्ष्मी के रूप में "विशोका" (आज की वेशिव नदी) का साहचर्य प्राप्त हो। यह विशोका नदी विश्व-प्रसिद्ध, "अहरबल" प्रपात से निकली है, जिसे उस समय "आखुबिल" चूहे का बिल-कहा जाता था।[10] वितस्ता के प्रवाह का दो बार रुक जाना, जैसा हमने ऊपर लिखा है, इस बात की और संकेत भी करता है कि इस नदी का एक से अधिक स्रोत भी रहा होगा। दूसरी बार यह "पन्चहस्त" (आज का पंजिथ गांव) से बहने लगी, तीसरी बार यह नदी "नरसिंहाश्रम" से प्रकट हुई,[11] वितस्तामाहात्मय भी इसका दूसरा स्रोत "वितस्तोत्र" (आज का व्यथवोतुर) मानता है, यह स्थान वेरीनाग से दो-तीन मील नीचे उत्तर-पश्चिम की ओर है। इस प्रकार यह अनुमान सुकर बन जाता है कि वितस्ता नीलकुण्ड

से निकल कर इन स्थानों के नदी-नालों का पानी भी लेकर अपने शरीर को पुष्ट करती गई, उसके प्रवाह का रास्ता इन्हीं जगहों से होकर जाता था।

वितस्ता के सन्दर्भ में नीलमत के बाद प्रामाणिकता तथा पुरातनता की दृष्टि से राजानक जयद्रथ कृत "हरचरितचिन्तामणि" का बड़ा महत्त्व है।[12] इनमें वितस्ता के तट पर बने हुए तीर्थों का विशद वर्णन है, साथ ही यह काव्य वितस्ता के जन्म के सम्बन्ध में नीलमत में दिये गये वृत्त का ही समर्थन करता है।[13] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि "वितस्ति" के साथ सम्बन्ध होने के कारण इसका नाम वितस्ता पड़ा-

तस्या नाम वितस्तेति कृतवान् शंकरः स्वयम्।

वितस्तिमात्रं गर्त तु शूलेन कृतवान् हरः।

रसातलगता येन निष्क्रान्ता सा सरिद्वार॥[14]

"इस (नदी) का नाम स्वयं भगवान शंकर ने वितस्ता रखा, शिवजी ने वितस्तिमात्र के बराबर अपने त्रिशूल से गड्ढा खोद डाला, और रसातल में चली गई इस उत्तम नदी को (वहीं से) बाहर निकाला।"

कल्हण ने अपने इतिहास-लेखन में नीलमत का आभार स्वीकार किया है, अत: वह वितस्ता के प्रवाह का वर्णन नीलमत के आधार पर ही करता है[15]-

उद्यद्वैत्स्तनिष्पन्द दण्ड कुण्डात पत्रिणा।
यत्सर्वनागाधीशेन नीलेन परिपाल्यते ॥[16]

"यह (कश्मीर) सब नागों के महाराज नील से रक्षित हैं, जिसका राजसी छत्र (गोलाकार) नीलकुण्ड है, और इसमें से निकली हुई वितस्ता (उस छत्र का) दण्ड है।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि नदियों को देवियों का दर्जा देने के कारण इनके माहात्म्य लिखने अनिवार्य बन गये, अत: वितस्ता के माहात्म्यों का भी प्रणयन किया गया। कश्मीर गवर्नमेंट रिसर्च पुस्तकालय में हमें इस समय ऐसे दो माहात्म्य प्राप्त हैं[17], इनके अतिरिक्त पण्डितों के घरों में और

भी माहात्म्यों का मौजूद होना सम्भावनीय है, परन्तु इनकी खोज तथा प्राप्ति के लिए एक सुव्यवस्थित अभियान की अपेक्षा है, दुर्भाग्य से ये सब माहात्म्य ऐतिहासिकता के आधार पर प्रामाणिक नहीं दिखाई देते, क्योंकि इनकी प्राचीनता संदिग्ध है। सर्वप्रथम ये माहात्म्य वितस्ता का आदिस्रोत "वेरी नाग" देते हैं, नीलनाग नहीं, इससे स्पष्ट होता है कि ये माहात्म्य मुगल-काल में लिखे गये हैं, क्योंकि उन्होंने ही इस कुण्ड का नाम साथ में सटे "वेर" नामक गांव से जोड़ दिया, इस नाम का उल्लेख सबसे पहले अबुल-फ़ज़ल करता है।[18] अत: यह सिद्ध होता है कि ये माहात्म्य सतारहवीं-अठाहरवीं शताब्दी में लिखे गये हैं। इस तर्क की पुष्टि में हम एक और तथ्य की तरफ संकेत करना अपना कर्त्तव्य समझेंगे, सुल्तान शहाबुदीन (सन् 1354-सन् 1373 ई०) ने वितस्ता के किनारे एक नगर "शहाबुदीनपुर" बसाया था, जो नाम आज तक बिगड़ते-बिगड़ते "शादीपुर" बन गया है। माहात्म्यों में इस नगर का नाम "शारदापुर" अथवा "शादीपुरा" दिया गया है, इन माहात्म्यों के रचनाकारों का अतीत से सम्बन्ध टूट चुका था। जोनराज अपनी द्वितीय राजतरंगिणी में शहाबुद्दीनपुर का निर्विवाद उल्लेख करता है[19], इसके अतिरिक्त इनमें मुगल बेगम नूरजहां से निर्मित शालामार बाग का वर्णन भी मिलता है।[20] परन्तु हम सब जानते हैं कि यह बाग सन् 1605-1627 ई० में बनाया गया।[21]

इस तरह इन माहात्म्यों की प्रामाणिकता संशयास्पद होने के कारण इनकी उपादेयता नहीं के बराबर है, नीलमत, हरचरितचिन्तामणि तथा राजतरंगिणी (कल्हणकृत) के आधार पर वितस्ता का उद्‌गम नीलनाग अथवा नीलकुण्ड से माना गया है, परन्तु कश्मीर में इस नाम की एक झील आजकल यूसमर्ग[22] से दो-तीन मील की दूरी पर विद्यमान है, और वास्तविक नीलनाग को अब वेरी-नाग नाम से पुकारा जाता है। इस भ्रम का निवारण करना संगत जान पड़ता है। यूसमर्ग के समीप यह नीलनाग "दुग्धगंगा"[23] अथवा "क्षीर-नदी"[24] का आदि स्रोत है, अबुलफ़ज़ल जैसा विद्वान भी नामों की समानता के चक्कर में पड़ गया और उसने असली नीलनाग (वेरीनाग) के बदले इसी नीलनाग के साथ वह सारी वार्त्तायें जोड़ दीं जो वस्तुत: नीलनाग वेरीनाग के सम्बन्ध में लोगों की जुबान पर जीवित थीं।[25] हम यह भी कह सकते हैं कि अबुल-फ़ज़ल ने जान-बूझ कर असली नीलनाग की महत्ता कम करनी चाही, क्योंकि

यहां पर मुगलों ने एक प्रमोदवन निर्मित किया था जहां वे एकान्त में रहने को अधिक पसन्द करते थे, परन्तु इस कुण्ड पर हिन्दू लोग श्राद्ध-तर्पण अथवा पूजा इत्यादि के लिए आते-जाते थे, एकान्त में विघ्न पड़ जाता था, अत: हिन्दू जनता को वहां से हटाने के लिए दूसरे नीलनाग की महिमा अबुलफज़ल ने गाई। यह भी सम्भव है कि जब हिन्दुओं ने इस पर मुग़ल-अधिकार होते देखा, तो राजसी भय तथा दण्ड के कारण दूसरे नीलनाग पर ही पूजा इत्यादि का क्रम जारी रखा हो, परन्तु आजकल इस प्रकार की बात देखने में नहीं आती, क्योंकि हिन्दू-परम्परा असली नीलनाग को ही वितस्ता के उद्‌गम स्थान बराबर समझती आ रही है। वितस्ता के प्रवाह-मार्ग का दूसरे नीलनाग से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं, इस दूसरे नीलनाग से नि:सृत दूधगंगा श्रीनगर से नीचे वितस्ता से ही मिल जाती है। तब तक वेरीनाग (असली नीलनाग) से श्रीनगर तक की लगभग अस्सी मील की यात्रा में वितस्ता से दूधगंगा का कोई भी संसर्ग नहीं हो पाता। स्वयं अबुलफज़ल ने लिखा है कि इस नीलनाग (वेरीनाग) के कुण्ड पर पत्थर के बहुत से शिवालय बनाये गये हैं।

ये पत्थर बहुत भारी थे,[26] परन्तु आजकल ये सब पत्थर गायब हैं, सम्भव है मुगलों ने इस नाग (चश्मे) के जीर्णोद्धार में ये भारी पत्थर काम में लिये हों। आजकल यहां केवल एक छोटा सा-शिवाला मौजूद है।

आजकल का शाहाबाद परगना "अनन्तनाग जिले के अर्न्तगत उस समय वेर कहलाता था, अबुलफजल ने भी इसे यही नाम दिया है[27], इसीलिए इस चश्मे का नाम आगे चलकर "वेरनाग"-वेर परगने का नाम पड़ गया। कश्मीर में गांव के नाम से विख्यात असंख्य नाग हैं, इससे उन्हें निर्दिष्ट करने में सुविधा भी हो सकती थी। यही वेरनाग (कश्मीरी) आजकल वेरीनाग कहलाता है। नीलनाग में साफ दर्ज है कि वितस्ता का जन्मदिन भाद्रपद शुक्लपक्ष त्रयोदशी को मनाया जाता था। इस पर्व का नाम इस ग्रन्थ में "वितस्तोत्सव" दिया गया है।[28] आज भी इस शुभ-दिन पर वितस्ता में फूलमालायें तथा फल इत्यादि विसर्जित किये जाते हैं और असंख्य दीप प्रवाहित किए जाते हैं। कश्मीरी में वितस्ता को "व्यथ" और इस पर्व को "व्यथत्रुवाह" कहा जाता है।

यह अनुमान लगाना भी संगत जान पड़ता है कि नीलनाग से निकला

हुआ यह छोटा-सा नाला दूसरे नदी-नालों को अपने साथ लेकर ही वितस्ता का विपुल शरीर धारण कर सकता था, अत: अनन्तनाग के समीप ही इसमें बहुत-सी नदियां मिल जाती हैं, और वितस्ता की काया ढलने लगती है। सर्वप्रथम भृंगी नाला इस वितस्ता के पानी में खो जाता है, तब उत्तरपूर्व से ''आरपथ''[29] नद इसके साथ मिल जाता है, फिर खनाबल के पास ''अछाबल''[30] का पानी इसमें मिल जाता है। उत्तर से ''लेद्री''[31] हिमानी नदी बहुत भारी कोलाहल करती हुई इस वितस्ता का अभिनन्दन करती है, दोनों एक हो जाते हैं। इस तरह इन नदी-नालों का संयोग पाकर वितस्ता श्रीनगर की ओर शान्त-गम्भीर, धीर-मंथर चाल से बहने लगती है।

खनाबल[32] से इस में किश्तियां, नावें इत्यादि चलने लगती हैं। यही जलमार्ग बहुत समय तक कश्मीर में आवागमन का एक सुलभ साधन रहा है, अत: इसके तटों पर नगर, तीर्थ तथा राजधानियां निर्मित की गई। खनाबल से लगभग दो मील नीचे वितस्ता की दायीं ओर विजयेश्वर का प्रसिद्ध तीर्थ स्थापित किया गया था, जिसे आजकल ''व्यजब्रोर'' कहा जाता है। कल्हण् की साक्षी के अनुसार यह प्रसिद्ध तीर्थ अशोक ने बनवाया था।[33] ''व्यजब्रोर'' अथवा ''बीजबिहाड़ा'' से नीचे तीन चार मील की दूरी पर वितस्ता में कुलग्राम की तरफ से ''विश्व''[34] नदी और शुपियां की ओर से ''रम्ब आर''[35] नदी इसमें मिल जाती है, अत: इस संगम को पुराने समय में ''गम्भीरसंगम'' कहा जाता था। आजकल इसे केवल ''संगम'' के नाम से पुकारा जाता है। राजतरंगिणी में लिखा गया है कि इस संगम पर महाराज चन्द्रा पीड़ के गुरु मिहिरदत्त ने बहुत से मन्दिर बनवाये थे,[36] परन्तु भूमि के ऊपर आजकल कोई भी मन्दिर या इसके भग्नावशेष दिखाई नहीं देते। सम्भव है यदि खुदाई की जाये तो इन मन्दिरों का पता मिल सकता है।

कुछ मील आगे चल कर वितस्ता अविन्तपुर[37] के साथ बहने लगती है। यहां पर दो मन्दिरों के भग्नावशेष श्रीनगर-जम्मू राजमार्ग पर ही दृष्टिगोचर होते हैं। महाराज अवन्तिवर्मन के राज्यकाल में ही वितस्ता की सफाई की गई, ताकि इसका एक निश्चित मार्ग निर्धारित किया जाये, इसके दोनों ओर ऊंचे-ऊंचे सेतु बनाये गए ताकि पहले की तरह वितस्ता का निरंकुश पानी नदी के किनारे तोड़ कर बाढ़ और अकाल का कारण न बन सके। इस योजना को अन्नपति

सूय्य ने हाथ में लिया, और इस तरह धान्य की एक खरवार (खरभार) जो पहले एक सहस्त्र दीनारों तक जाती थी, अब केवल छत्तीस दीनारों[38] में बिकने लगी।[39]

अवन्तिपुर के पांच-छः मील नीचे केसर की टेकड़ियों पर ललितपुर नाम वाला उपनगर आता है, इसे महाराज ललितादित्य मुक्तापीड़ के नगर निर्माण-अधिकारी ने उसकी अनुपस्थिति में बसाया था[40], अतः महाराज ने इसके प्रति कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई, फलस्वरूप यह उपनगर राजकीय संरक्षण के अभाव में उजड़ा-उजड़ा-सा रहा। इस समय भी यहां टेकड़ियों पर किसी भी भवन के अवशेष नहीं मिलते, सम्भवतः खुदाई के पश्चात् कुछ मिल सके। इस गांव को आजकल ''ल्यतपोर'' कहा जाता है।

इन टेकड़ियों से उतरकर हम वितस्ता को पद्मापुर (आज का पाम्पोर) के बहुत ही निकट बहते देखते हैं। यह उपनगर महाराज ललितादित्य की महारानी जयादेवी के भाई पद्म ने बसाया था, वहां पर एक विष्णुमन्दिर की भी स्थापना की गई थी,[41] परन्तु इस मन्दिर के चिह्न आजकल कहीं नहीं मिलते, अनुमान है कि श्रीनगर के समीप होने के कारण सुल्तानों के शासन-काल में इसका भंजन किया गया हो, या इसे मस्जिद में परिवर्तित किया गया हो।

यहां वितस्ता दायें को थोड़ा-बहुत मुड़ कर पुराणधिष्ठान (कश्मीरी पांद्रें-ठन) नामक उपनगर के समीप होकर बहती है। यह कश्मीर की प्राचीन राजधानी रही है, और इसका निर्माण प्रवरसेन प्रथम ने किया था।[42] इस स्थान पर बौद्धों, वैष्णवों तथा शैवों ने क्रमशः अपने विहार और मन्दिर बनवाये, जिनके भग्नावशेष यहां बहुत दूर तक बिखरे मिलते हैं। जहां से दो-तीन मील नीचे वितस्ता के साथ महासरित् का संगम हो जाता है, यहां बिल्हण् की साक्षी के अनुसार एक मन्दिर ''क्षेमगिरिवर'' बनाया गया था।[43] इस महासरित् को आजकल ''मार'' कहा जाता है, और यह वास्तव में झील डल से निकाली गई एक नहर मात्र है। इसी ''मार'' के किनारे ''माक्षिकस्वामिन'' नाम का मन्दिर भी था[44], जिस स्थान को अब ''मायसूम'' कहते हैं, परन्तु मन्दिर का कहीं भी नाम-निशान नहीं। ''जैनराजतरंगिणी'' में श्रीवर इस महासरित् को ''मारी'' नाम देता है।[45] जो आगे चलकर ''मार'' हो गया। नगर के अन्दर

के भाग के लिए इसकी बहुत ही उपयोगिता थी, क्योंकि यह वहां यातायात का एक सस्ता साधन थी। यह ''मार'' नगर के अन्दर के भागों को एक दूसरे से मिलाकर नड़-वन (कश्मीरी नरवीर) तक फैली हुई थी, और फिर आंचार झील में विलुप्त हो जाती थी।[46]

''मार'' अथवा महासरित् और वितस्ता के संगम के कुछ दो-एक मील ऊपर यह नदी श्रीनगर में प्रवेश करती है। गोपाद्रि (शंकराचार्य पर्वत) के दामन में बने ''शुरहयार'' मन्दिर को ही इस नदी का राजधानी में प्रवेश करने के द्वार कह सकते हैं, और वहां से इस नदी के दोनों तरफ पुख्ते घाट तथा सेतु बनाये गए हैं, जिन पर आर-पार श्रीनगर बसा हुआ है। हिन्दू शासकों ने नदी पार करने के लिए नावों के अस्थायी पुल बनाये थे, जिन्हें शत्रु के आक्रमण के समय बहुत आसानी से अलग-अलग किया सकता था, और हमलावर पार जाने में बहुत कठिनाई अनुभव करता।[47] वितस्ता पर स्थायी पुल सुल्तानों के शासन-काल में बने, और सम्भवतः पहला ऐसा पुल ''ज़ैनाकदल'' सुल्तान ज़ैनुल-आब्दीन ने निर्माण कराया[48], परन्तु यह कहना गलत होगा कि वितस्ता पर स्नानागार भी सुल्तानों ने ही बनवाये। कल्हण हमें सूचना देता है कि वितस्ता के दोनों किनारों पर स्नानगृह, मज्जनावास तथा स्नानकोष्ठ बने हुए थे [49], सम्भव है कि स्नानकोष्ठ स्त्रियों के लिए सुरक्षित हुआ करते थे। स्नानकोष्ठ से कश्मीरी ''स्नानकुठ'' आज भी इस नदी में देखे जा सकते है। यह प्रायः लकड़ी के बने हुए होते है। इस स्नानगृहों का उल्लेख कल्हण् से बहुत पहले क्षेमेन्द्र भी करता है। [50]

इससे पूर्व कि हम श्रीनगर में से वितस्ता के प्रवाह का वर्णन करें, यह जान लेना संगत होगा कि खनाबल से लेकर पूर्णाधिष्ठान तक सारे तीर्थ, उपनगर तथा मन्दिर वितस्ता के दाहिने तट पर ही बनाये गये हैं। इसका प्रमुख कारण यह हो सकता था कि वितस्ता का दक्षिण तट चट्टान-मय था। और साथ में टेकड़ियों ने इसे और भी पुष्टता प्रदान की थी, अतः स्थायी नींव पर ही इन भवनों का निर्माण सुस्थिर हो सकता था। इसका बायां किनारा दलदल युक्त है, इसलिए ऐसे कामों के लिए अनुपयुक्त, आज भी प्रकृति के इस असमान व्यवहार को हम भली-भान्ति देख सकते है।

"मार" और वितस्ता के संगम से जरा नीचे बायीं तरफ हम एक छोटी नदी के दर्शन करते हैं, जो वास्तव में इस से ही निकाली गई एक छोटी-सी नहर है। इसे "क्षिप्तकुल्या" कहा जाता था[51], कश्मीरी में इसे "किटकोल" कहा जाता है अर्थात् नकली नदी । यह नदी वितस्ता से इसलिए निकाली गई होगी कि राजधानी में से बहते हुए वितस्ता का पानी समतल रहे, और बाढ़ के दिनों में इसमें पानी के आधिक्य को इसी "क्षिप्तकुल्या" द्वारा नगर के बाहर कर दिया जाये, तभी तो यह नदी राजधानी श्रीनगर से बहुत नीचे फिर वितस्ता से मिल जाती है, सातवें (अब आठवें) पुल के समीप। महासरित वितस्ता संगम के ठीक सामने एक विष्णु-मन्दिर गदाधर के नाम से खड़ा है, शायद यह डोगरा राजाओं द्वारा बनाया गया हो क्योंकि इस मन्दिर के साथ ही उन के महल थे। इस मन्दिर का उल्लेख प्राचीन इतिहासों में नहीं मिलता। इसमें पूजित अनुपम मूर्त्ति अवन्तिपुर मंदिर की खुदाई में प्राप्त हुई है।

प्रतीत होता है कि एक ओर वितस्ता और दूसरी और क्षिप्त-कुल्या से बने द्वीप पर ही पुराने समय में राजाओं के महल थे। यह जगह श्रीनगर से अपेक्षाकृत ऊंची भी है। इस द्वीप का प्राचीन नाम "काष्ठिल" था जिसे आजकल काठुल कहा जाता है। इस अनुमान की पुष्टि कल्हण के इस उद्धरण से होता है कि महाराज अनन्त (सन् 1028-1063 ई०) ने अपना राजसी आवास सदाशिव मन्दिर के समीप ही बनवाया[52], यह वितस्ता के बायें तट पर था, आज भी इस स्थान पर एक शिव-मन्दिर है जिसे "काष्ठलेश्वर" कहा जाता है। इसकी प्राचीनता भी साफ दिखाई देती है। कल्हण आगे लिखता है कि यह सदाशिव मन्दिर वितस्ता के दायें किनारे पर बने सोमतीर्थ के सामने था।[53] यह सोमतीर्थ आज का सोमयार ही है जो हब्बा कदल के साथ सटा हुआ है। डा० स्टीन ने इस सदाशिव मन्दिर को आज का "पुरुषयार" माना है जो हब्बाकदल से थोड़ा नीचे बायें को है[54], परन्तु यह मन्दिर उतना प्राचीन दिखाई नहीं देता, और यह जनता की दानवीरता से बना है। सोमतीर्थ अथवा आज का सोमयार भी काष्ठलेश्वर के ठीक सामने नहीं, यह हब्बाकदल के साथ है, जबकि काष्ठलेश्वर बड़शाह कदल और हब्बा कदल के मध्य में है। यदि कोई मन्दिर काष्ठलेश्वर के ठीक सामने है तो वह गणपतियार ही हो सकता है, परन्तु यह शिव-मन्दिर नहीं, अपितु गणेश-मन्दिर है, हो सकता है

कि यह पूर्वकाल में शिव-मन्दिर ही रहा हो, परन्तु यह सोमतीर्थ नहीं, अत: हम कह सकते है कि ''काष्ठल'' ही सदाशिवमन्दिर हो सकता है, और नगर का भूभाग जान-बूझ कर ऊंचा बना दिया गया था ताकि राजमहल बाढ़ों से बच कर रहें, और आक्रमण के समय महाराज को यह ऊंचाई शत्रु का दमन करने में विशेष सहायता देती। इसके अतिरिक्त कश्मीर में लकड़ी ही विशेषतया भवन-निर्माण में काम आती रही है, इसलिए महल भी लकड़ी के ही बने हुए थे, अत: इस जगह को ''काष्ठ'' अथवा लकड़ी की संज्ञा दी गई। कश्मीर में भयानक आग के कारण भी यही लकड़ी के मकान रहे हैं, कभी-कभी आग इतनी प्रचण्ड हो जाती कि एक तट से जैसे उड़कर दूसरे तट को अपना भोजन बनाने लगती।[55] इस ''काष्ठल'' अथवा ''काठल'' मुहल्ले से जरा ऊपर दूसरा मुहल्ला ''टींकीपोर'' नाम का है, सम्भवत: यह ''टं'कनपुर'' रहा हो, और महाराजाओं ने अपने महलों के समीप ही सिक्के बनाने की टंकनशाला का निर्माण किया हो, सुरक्षा और सुविधा की दृष्टि से। कश्मीरी में आज मुद्रा को ''टींक'' कहा जाता है।

इस तरह वितस्ता श्रीनगर को दो समानान्तर भागों में विभक्त करके शान्त-सौम्य गति से छत्ताबल तक बहती जाती है, जहां इसके जल को श्रीनगर में एक ही स्तर पर रखने के लिए एक बांध-सा बनाया गया है। यहां तक बहते-बहते इस नदी के दोनों किनारों पर बहुत तीर्थ तथा मन्दिर बनाये गये होंगे, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में इनका परिचय नहीं मिलता, और न ही इनके भग्नावशेष प्राप्त हुए है। सम्भव है कि इन्हें यथावत रूप में कुछ सुधार करके मस्जिदों में बदल दिया गया हो, जिसका ज्वलन्त उदाहरण ''शाहहमदान खानकाह'' है जो पहले काली-स्थान था। वितस्ता जहां छत्ताबल के समीप पहुंचती है, वहीं दायें किनारे पर महारानी दिद्दा (सन् 980-1002 ई०) ने एक मठ ''दिद्दामठ'' के नाम से बनाया था[56], इस मुहल्ले को आजकल ''द्यदमर'' कहा जाता है। श्रीनगर के इस भू-भाग का बार बार वर्णन होता है।[57] श्रीनगर की सीमा से बाहर होकर वितस्ता के तटों में एक अभूतपूर्व परिवर्तन दिखाई देता है, अब दायां तट दलदली बन जाता है और बायां पूर्ण रूप से सुदृढ़। यहीं पर दूधगंगा वितस्ता से मिल जाती है। संगम हिन्दुओं के लिए तीर्थ है, अत: यहां पर भी एक मन्दिर की स्थापना हुई थी, जिसका

संकेत हमें बिल्ह्‌ण देता है।[58] परन्तु सब से श्रेष्ठ और पवित्र संगम इससे दो-तीन मील दूरी पर है, इसे प्रयाग भी कहा गया है।

सिन्धु नदी गंगबल झील से उतरकर दुग्धाश्रम[59], (कश्मीरी दोदरहोम) के पास मैंदानी इलाके में प्रविष्ट होती है, इस गंगबल की हिमानी झील को यहां के पुराने इतिहासों में उत्तरमानस अथवा हरमुकुट गंगा का नाम दिया गया है।[60] यहां दुग्धाश्रम से यह सिन्धु नदी अन्य नदी-नालों को साथ लेकर पश्चिम की ओर बहकर शादीपुर के सामने वितस्ता से मिल जाती है। कश्मीर में सिंधु को गंगा की पदवी दी गई है। नीलमत में वितस्ता को यमुना और सिन्धु को गंगा कहा गया है अत: इनके संगम को प्रयाग की उपाधि देना समीचीन है---

गंगा सिन्धुस्तु, विज्ञेया वितस्ता यमुना तथा।[61]

यह संगम बहुत ही प्राचीन समय से पावन माना जाता रहा है। यहां श्राद्ध और अस्थि-विसर्जन किये जाते हैं। कल्हण् की साक्षी के अनुसार इस संगम का पुनरुद्धार ''सुय्या'' ने किया, जब उसने वितस्ता के प्रवाह में गतिशीलता लाई। वह आगे कहता है कि इस संगम पर विष्णुस्वामी और वैयस्वामी नाम के दो मन्दिर थे, जो फलपुर और परिहासपुर (कश्मीरी परसपोर) के बहुत निकट थे। इसके अतिरिक्त वह लिखता है कि सुय्या ने यह संगम ''सुन्दरी भवन'' नामक स्थान पर निर्माण करवाया, और वहां पर ऋषिकेशयोगस्वामी का मन्दिर भी बनवाया, जो इसका इष्टदेव था।[62]

अत: यह अनुमान करना सहज बन जाता है कि वितस्ता उस समय परसपोर के पास से बहती थी, और सुय्या ने ही इस का प्रवाह-मार्ग इससे दूर सरका दिया, इस सम्बन्ध में श्री रामचन्द्र काक कहते है ''उन कन्दराओं को पार करके जहां अब दिवरयाकमनपुर नाम वाला छोटा-सा गांव है और इसके सामने टेकड़ी पर चढ़कर बहुत भव्य मन्दिरों के अवशेष मिलते हैं, जिन का आकार मार्तण्ड के सूर्य-मन्दिर से भी बहुत विशाल है''[63], यही मन्दिर विष्णु स्वामी और वैन्यस्वामी के होंगे और ये कन्दर वितस्ता का सूखा तल होगा, जब इसका प्रवाह-मार्ग सुय्या ने बदल दिया, और इस परिवर्तन से पहले वितस्ता के साथ सिन्धु यहीं पर मिलती थी। आज जिस स्थान को संगम कहते हैं वहां

एक छोटा-सा शिवाला है और नदी में तट से कुछ दूर पत्थरों का एक चबूतरा बना दिया गया है, जिस पर चिनार का वृक्ष उगा हुआ है। काश्मीरी पण्डितों का विश्वास है कि यह चिनार न बढ़ता है न घटता है, इसकी ऊंचाई और मोटाई वैसी की वैसी रहती है और वितस्ता में बाढ़ इत्यादि के समय यह चिनार ऊपर हो जाता है, पानी में डूबता नहीं। कल्हण् ने कहा है कि इस संगम पर वट वृक्ष लगाया गया था[64], सम्भव है कि कश्मीर के जल-वायु में यह पनप न सका हो, तो उसकी जगह बाद में स्थानीय चिनार बोया गया हो, जो आज तक वहां खड़ा है। इस संगम से दो-एक मील नीचे की ओर सुम्बल नाम वाला गांव नदी के दोनों तटों पर आबाद है, और एक पुल से जुड़ा हुआ है। उन दिनों जब वितस्ता थोड़ा बायीं को बहती थी, कश्मीर की प्राचीन राजधानी जयपुर वहीं पर स्थित थी, महाराज जयापीड़ ने इसे बसाया था, इसे "अभ्यन्तरकोट" भी कहा जाता था, जो कश्मीरी में अन्द्रकोट के नाम से प्रसिद्ध है।[65] सम्भव है कि राजधानी को सुरक्षित रखने के लिए इसके चारों ओर अन्दर तक वितस्ता के पानी से खाई बना दी गयी थी, ताकि शत्रु आसानी से अन्दर न आ सके। राजधानियों और महलों के इर्द-गिर्द खाइयां और खन्दक बनाना भारत में बहुत पुराना रिवाज रहा है।

इसी सुम्बल कदल के जरा नीचे बाई ओर नन्दीकेशव तीर्थ, जिसे आजकल नन्दिकेश्वर कहा जाता है, बसा हुआ है[66], इसी तीर्थ के समीप एक नहर मानस (सरस्) की ओर जाती है, जिसे आजकल मानसबल कहा जाता है। इस मानसबल झील का उल्लेख नीलमत तथा जोनराज की राजतरंगिणी में भी मिलता है।[67] इसी नन्दिकेश्वर तीर्थ के जरा नीचे वितस्ता वुल्लर झील में से अपना रास्ता बनाती है। इस झील को नीलमत आदि प्राचीन ग्रन्थ महापद्मसर का नाम देते है। इसका आज का नाम वुल्लर स्पष्टतया "उल्लोल" का विकृत रूप है जिस शब्द का प्रयोग जोनराज तथा मंख ने किया है।[68] एक बात इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि वितस्ता वुल्लर में से अपना स्वतन्त्र मार्ग निकालती है, दूर से इस अथाह जलसागर में वितस्ता एक हल्की लकीर-सी दिखाई देती है, और बाईं ओर निरन्तर अपना प्रवाह जारी रखती है।

वुल्लर झील में से निकल वितस्ता सुय्यापुर (आज का सोपोर) पहुंच जाती है। यह उपनगर अन्नपति सुय्या द्वारा बसाया गया था, जिसका उल्लेख

पहले किया गया है। सोपोर से नीचे दाईं ओर से "पोहर" नदी वितस्ता में मिल जाती है, इसका उल्लेख जोनराज ने किया है, परन्तु नीलमत और रातरंगिणी इस सम्बन्ध में मौन है।[69] आगे बढ़कर वितस्ता "वाराहक्षेत्र" में प्रवेश करती है, जिसका मुख्य उपनगर "बाराहमूल" आज का बारामूला है। यह नाम वस्तुत: "आदिवाराह विष्णु" नामक तीर्थ से लिया गया है, इसे आजकल "कोटितीर्थ" कहा जाता है। जोनराज के अनुसार इस तीर्थ को सिकन्दर बुतशिकन ने तुड़वा डाला था।[70] उस समय यह नगर वितस्ता के दाएं तट पर आबाद था, परन्तु अब वह दोनों किनारों पर फैला हुआ है। पुराने समय में भी यहां एक पुल हुआ करता था। यह स्थान सुरक्षा की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था, अत: यहां पर एक "द्रंग"[71] की स्थापना भी की गई थी। यहां वाराक्षेत्र में कुशान नरेश कनिष्क ने कनिष्कपुर (आज का कानिसपोर) और हुविष्क ने "हुविष्कपुर" (आज का वुष्कोर) नामक दो उपनगर बसाए थे। ललितादित्य ने यहां पर विष्णु-मन्दिर स्थापित किया था, इसी के साथ उस सहिष्णु महाराज ने बौद्ध-बिहार भी निर्मित किया था।[72] महाराज क्षेमगुप्त ने अपने अन्तिम दिन उन्हीं दो मठों में बिताये, जो उसने "बुष्कोर" में बनवाये थे।[73]

थोड़ा-बहुत आगे चलकर वितस्ता का शान्त प्रवाह पथरीले मार्ग पर हो लेने से सिर-फटौल गति प्राप्त करता है, और इसका अधिकतर जल अन्दर ही अन्दर विलीन होकर पश्चिमी पाकिस्तान में फिर से अपना विपुल शरीर पाकर "जेहलम" का नाम धारण करता है। वितस्ता का यह "जेहलम" नाम सर्वप्रथम श्रीवर ने प्रयुक्त किया है।[74] यहां इन स्पष्ट कारणों से वितस्ता का पाट बहुत संकीर्ण हो जाता है, अत: इसे "कनिका माता" (कश्मीरी कनि माऽज) का नाम दिया गया है। सम्भवत: यह नाम "कन्" धातु से बनाया गया है जिसका अर्थ कम होना, अथवा आकारक्षति पाना है। इस स्थान पर इन्द्रद्वादशी का पर्व मनाया जाता रहा है। प्राचीन समय में यह आमोद-प्रमोद का दिन होता था,[75] परन्तु अब यहां पर पितरों का श्राद्ध किया जाता है। यह दिन भाद्रपद शुक्लपक्ष द्वादशी को पड़ता है।

इस तरह यह वितस्ता नीलकुण्ड से जन्म लेकर, खनाबल में अपनी सखी-सहेलियों को साथ लेकर खादनयार[76] तक धीर-शान्त गति से बहती जाती है। इसकी तरंगों की छल-छल में हमारी संस्कृति की मिठास समोई हुई है।

वास्तव में इसकी यह लगभग अस्सी मीलों की यात्रा हमारी संस्कृति के वे मील-पत्थर कहलाएंगे, जिन्होंने बहुत प्राचीन काल से आज तक हमारे उत्थान-पतन, पुण्य-पाप, आचार-विचार के साक्षी बनकर भिन्नता में एकता का अमर-सन्देश दिया है। पानी के प्रवाह को कोई भी नाम दिया जाये, इसकी पावनता और स्वच्छता में कोई भी अन्तर नहीं आयेगा, गुलाब को किसी और नाम से पुकारें, इसकी महक अक्षुण्ण रहेगी। अतः वैशम्पायन महाराज जन्मेजय को ठीक ही कहता है-

पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तत्र नराधिप।[77]

"हे राजन् पृथ्वी पर जो भी तीर्थ हैं, वे सब वहां (कश्मीर में) पाये जाते हैं।" इस प्रवचन की पुष्टि में वह आगे चलकर इस तरह कह उठता है-

तन्मध्येन च निर्याता सीमन्तमिव कुर्वती।

वितस्ता परमा देवी साक्षाद् हिमनगोद्‌भवा॥[78]

"उन (नदी-नालों, नागों, सरों, झीलों तथा टेकड़ियों) के बीच में से निकलकर, बहकर, यह परमदेवी वितस्ता, वस्तुतः हिमालय से जन्म लेकर (श्रीनगर को) किसी रमणी के केशों में वेणी की तरह, दो भागों में विभक्त करती है।"

-0-

1. नदीसूक्त 1-27-5, 2.111.90 3. नीलमत पुराण प्रो० कांजीलाल तथा प्रो० ज़ाडू द्वारा सम्पादित, इसी संस्करण का प्रस्तुत लेख में उपयोग किया गया, 65-66, 217-218, 4. 125-128 5. नील० 336-337, 6. वही 336-337, 7. बारह अंगुल के बराबर, अंगूठे और कनिष्ठिका के बीच की (हाथ फैलाकर) दूरी, आप्टे -संस्कृत-अंग्रेजी कोष, 8. 1,28, 9. डा० वेद कुमारी, नीलमत पुराण, प्रथमक, 10. नील० 380, 11. वही, 346, 349, 12. काव्यमाला सीरीज -61, 13. हरचरित, 11, 2, 34. 14. नील० 15. राज० 1,14, 16. वही 1, 28, 17. भृंगीश संहिता, तथा आदि पुराण (कश्मीर खण्ड) से क्रमशः उद्धृत 18. आइने अकबरी, 11. पृष्ठ 370 19. जोनराजतरंगिणी, 409, 20. वितस्ता-माहात्म्य, 1-39, 21. सम्राट जहांगीर का शासन-काल, 22. प्रसिद्ध पर्यटन-स्थल,

23. विक्रमांकदेवचरितम्, 111, 7, 24. हरचरित् चिन्तामणि, 25. आईने-अकबरी, 11, 363 पृष्ठ। 26. आईने-अकबरी, 11 पृष्ठ 370, 27. वही, पृष्ठ 361, 28. 762-766, 29. नीलमत में हर्षपथ, 30. राज० में अक्षवाल, 1, 338, नीलमत में अक्षिपाल नाग, 31. राज० 1, 87, 32. नीलमत में "खण्डपुच्छ", 33. राज० 1, 105. 34. नीलमत में विशोका, 35. रामायणटवी राज० 36. 263-265, 37. राज० 1/, 80, 38. वहीं 1/, 46, 39. रूपये का 1/40वां भाग, 40. राज० , 116,117, 41. राज० 1/ 186, 8. राज० 1/, 695. 42. राज० 111, 99, 43. विक्रमांकदेवचरितम् 1/111, 28, 44. राज० 1/188, 45. 1-442, 46. राज० 111, 345, 47. वही 1/111, 909, 48. श्रीवर, ज़ौनराज-तरंगिणी , 49. 1/222, 707, 1182, 2423 इत्यादि, 50. समयमातृका , 38. 51. राज० 1/111, 732, 52. वही, 186-187, 53. वहीं, 3360, 54. राज० भूमिका। 55. राज० 1/111, 1169-1180, 56. वही 1/1, 300, 57. जोनराजतरंगिणी। 173, 11, 156 इत्यादि। 58. विक्रमांकदेवचरति् 1/ 111, 22, 59. श्रीवर जोनराजतरंगिणी, 11/, 110, 136, इत्यादि, 60. राज० 1, 57, हरचरित् चिन्तामणि, 11/ 87, नीलमत 610, 970, 61. नील० 297, 62. राज० 1/99-100, 63. कश्मीर के प्राचीन स्मारक। 64. राज० 1, 91, 65. राज० 11/, 509, 66. वही, 245, 67. नील० 1338, राज० 864, 68. नील० 958, राज० 909, 944, श्रीकण्ठचरतिम्॥ 69. राज० 1227-1230, 70. वही 319, 71. सैनिक गड़ी, 72. देखिए इतिहासकार कल्हण्, 73. राज० 11/, 136, 74. जैनराजतरंगिणी, 75. राज० 1/111, 495, 76, नील 792, राज० 111, 14. 77. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र।, 20, पंचस्तवी-11/, 31, विष्णुपुराण, 1, 17, 11, 4. 2, 1/,1 इत्यादि, अभिनवगुप्त, तन्त्रालोक-1/1, 56, ईश्वर- प्रत्यभिज्ञा वृत्ति 111, 1, 90, 7तन्त्रालोक, 1/, वही, 48, कामिकातंत्र मन्त्रशासन, 11/, 26. 78. नील० 35, 2. वहीं, 43-45

''पञ्चस्तवी'' --एक संक्षिप्त अध्ययन

''पञ्चस्तवी'' शब्द वास्तव में एक समस्त पद है, जिसका सामान्य अर्थ भक्ति-श्लोकों का ऐसा संग्रह है जिसे पांच स्तवों में विभक्त किया गया हो। इस भक्ति-काव्य का प्रथम श्लोक ही हमें इस बात का ज्ञान कराता है कि वह संग्रह इन्द्रधनुषी विविधता लिये दिव्य-शक्ति के प्रति श्रद्धा-भक्ति की अभिव्यक्ति है, यह दिव्य-शक्ति वाक् और ज्योति, शब्द और अर्थ का मधुर समन्वय है। इसके अतिरिक्त अ से क्ष तक सारी वर्णमाला इसमें ही प्रसूत है[1], और यह परा-शक्ति शब्द-ब्रह्म की जननी है, कभी-कभी इसे पराविधा, आनन्द तथा विश्वमय प्रकृति का भी नाम दिया गया है।[2] यह महामाया इस शब्दार्थमय विश्व को जन्म भी देती है, और इसे नष्ट भी करती है, जिसके लिए उसके पास इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक तीन अमोघ साधन हैं,[3] परन्तु हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भक्ति के ये पांच स्तव वस्तुत: परासंवित् की मानसिक अनुभूति का लाक्षणिक प्रयोग द्वारा शब्दों में दिया गया स्थूल रूप है। इस तथ्य की ओर कवि ने पांचवें स्तव में साफ इशारा किया है।[4]

पंचस्तवी मूलत: एक शैव-ग्रंथ है, और पंच अथवा संस्कृत पंचम् का प्रयोग शैवाचायों ने कई अर्थों में किया है। पंचस्तवी के रचनाकार ने सम्भवत: इन्हीं अर्थों के परिवेश में अपने भक्ति-काव्य का श्रीगणेश ''पंच'' शब्द से किया है, केवल पांच स्तवों का सीमा-निर्धारण भी इसी तथ्य का समर्थन करता है। अत: यह कहना संगत होगा कि शैवों ने जिस-जिस अर्थ में इस ''पांच शब्द'' का प्रयोग किया है उसका विशद वर्णन किया जाये।

''तन्त्रसद्भाव''[5] नामक शैव-ग्रन्थ में आदिशक्ति को ''पंचमन्त्रगता'' कहा गया है। ''पंचविधा'' भी इसका दूसरा नाम है, यहां पर स्पष्ट रूप से उस मन्त्रोच्चारण के प्रति संकेत दिया गया जिसमें तात्कालिक सिद्धि समाविष्ट हो, ये हैं- ''ईशान'' जिसमें पांच कलाएं, ''सत्पुरुष'' में चार, ''अघोर'' में आठ, ''वामदेव'' में तेरह और ''संघोजात'' में भी आठ, इन सबका जोड़ अठतीस बनता है जो वर्णमाला में व्यंजनों की संख्या है। ''प्रत्यभिज्ञा''[6] में पांच को

पंचकृत्यानि का समानार्थक माना गया है, ये कृत्य हैं---आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीज तथा अवस्थापन । ये कृत्य वास्तव में ज्ञान की पांच दशाएं हैं, और अपविधि के अनिवार्य अंग, अतः पंचस्तवी[7] में "मन्त्रोद्वार" अथवा मन्त्रोच्चारण का प्रयोग सोद्देश्य है। शैवों के अनुसार पराशक्ति पराविद्या का ही एक रूप है[8], अतः अविद्या के साथ इसकी तुलना अपेक्षणीय बन जाती है। यह अविद्या भी पांच प्रकार की है- तम, मोह, महामोह, तमिस्त्र, तथा अन्धता।[9] पंचस्तवी में स्थान-स्थान पर इस मोह, तम इत्यादि के नाश की पराशक्ति से याचना की गई है[10], अतः अविधा के इन पांच स्वरूपों का उच्छेदन करके ही पराविधा का हनन शुद्धाध्वन् पर चखने से ही हो सकता है।[11] शैवों की यह भी धारणा है कि "पुरुष" के पांच कंचुक नियति, काल, राग, विद्या और कला है। इस सब का सामूहिक प्रभाव माया के रूप में प्रकट होता है[12], और इस माया का उन्मूलन शुद्धविघा द्वारा ही सम्भव है। शैवमत में माया की शिव और शक्ति का उन्मूलन शुद्धविद्या द्वारा ही सम्भव है। शैवमत में माया को शिव और शक्ति की एकाकारता का अभाव माना गया है।[13] इस माया से ऊपर उठने के लिए साधक को पांच दशाओं में से गुजरना पड़ता है, ये हैं सद्विद्या, ऐश्वर्य, सदाख्या, शक्तितत्त्व, तथा शिवतत्त्व। इन्हीं साधना की मंजिलों को पार करके परमशिवता प्राप्त होती है, जो शैवानुशासन को पराकाष्ठा है। पंचस्तवी में इनके प्रति स्पष्ट आग्रह परिलक्षित होता है।[14]

पांच शब्द की इन अर्थ प्रक्रियाओं के अतिरिक्त यह शब्द पंचमहाभूतों का भी द्योतक है, ये हैं पृथ्वी, आप्, अग्नि, वायु तथा आकाश। चूंकि मन्त्रोच्चारण एक मानसिक व्यायाम होते हुए भी एक शारीरिक क्रिया-कलाप भी है, अतः इन पांच तत्त्वों का सन्तुलन शरीर की स्वस्थता का परिचायक है, "शरीरमाद्य" खलु धर्मसाधनम्" इस भाव की व्याख्यामात्र ही है, इसी दृष्टिकोण की पुष्टि में शैवतन्त्रों में मानव शरीर को श्रीचक्र की उपाधि दी गई है जिसके विश्वमय रूप स्वक्, अस्त्र, मांस, मेदा तथा अस्थि हैं, इनका विश्वोत्तीर्ण रूप तन्मात्राओं द्वारा व्यक्त होता रहता है जिनका सम्बन्ध शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जैसे सूक्ष्म तत्त्वों से है। इन सबका समवाय पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों तथा पांच प्राणों से होता है।[15]

शैवागमों के अनुसार पांच कारण स्वीकार किये गए हैं, वे हैं- ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, सदाशिव और ईश्वर। पंचस्तवीकार ने इन कारणों का पग-पग पर

श्रद्धायुक्त उल्लेख किया।[16] इसके अतिरिक्त ''शिव'' जो शैवदर्शन का आदि प्रणेता माना गया है, पंचमुखी समझा गया है और शक्ति के बिना यह तो ''शव-मात्र'' है।[17] शैवानुशासन में भोग और योग का सन्तुलित समन्वय किया गया है, विश्वमय तथा विश्वोत्तीर्ण रूपों का एक जैसा महत्त्व दिखाया गया है, यदि यह सन्तुलन बिगड़ जाए तो साधक का आत्मानुभव खंडित हो सकता है[18], इसीलिए वामाचार के ''पांचम'' शैवों की दृष्टि में हेय हैं, इन्हीं ''पांचम'' का निराकरण करने के हेतु कवि ने पंचस्तवी में पांच स्तवों की रचना की, और क्रमशः प्रत्येक ''म'' का प्रत्येक स्तव में खण्डन किया, अतः उसने ''अपरे और ''बुधाः'' का प्रयोग करके इस अन्तर को स्पष्ट करना चाहा है, ''केचित्''-कई, ''अपरे''--अन्य, अर्थात् आदिशक्ति को ''कुलम्'' की संज्ञा देने वाले, और ''बुधाः'' ज्ञानी, अर्थात् इसे ''अकुलम्'' मानने वाले, इसी ''कुलुम्'' से ''कोलम्'' अथवा वामाचार की उत्पत्ति हुई है।[19] इसी प्रकार मंत्र-सिद्धि के हेतु शैवों ने ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, प्राणायाम और समाधि पांच साधनों को ही महत्ता दी है[20], इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शैवों ने इस ''पांच'' के प्रति अतीव आस्था दिखाई है, और इसी परिप्रेक्ष्य में पंचस्तवीकार ने केवल पांच ही स्तवों की रचना करके शैवों के इस संध्या-विशेष के प्रति आग्रह की परिपुष्टि की है।

इसके अनन्तर हम यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि कवि ने इन स्तवों के जो अलग-अलग नाम दिए हैं, वे सारगर्भित होकर भी एक विशिष्ट विचार-धारा के अनुरूप हैं, पहले स्तव का नाम इसने ''लघुस्तव'' दिया है, जिसका शाब्दिक अर्थ ''हल्का'' अथवा ''महत्त्वहीन'' हो सकता है, और इस अर्थ के प्रति संकेत हमें इस ''स्तव'' के अंतिम श्लोक में भी मिलता है, ''लघुस्तवात्मनि'' का प्रयोग करके रचनाकार ने आदिशक्ति की व्याख्या करने के लिए अपने आपको बहुत ही अयोग्य समझा है, परन्तु इस प्रकार की महत्त्वहीनता, अयोग्यता हर एक भक्त कवि ने दर्शायी है, तो क्या पंचस्तवीकार भी उसी लीक पर चलना चाहता है? परन्तु थोड़ा सा मनन करने के बाद हम यह कहेंगे कि कवि ने इस शब्द ''लघु'' का अनेक अर्थों में प्रयोग करके शैव-दर्शन में अपनी आस्था दिखाने के लिए परोक्षनीति को अपनाया है।

हमें यह स्वीकार्य है कि पंचस्तवी का प्रथम स्तव इस शिवसूत्र की मीमांसा तथा समीक्षा के लिए अर्पित है-''विद्याशरीरसत्ता मंत्ररहस्यम्''[21], मन्त्र

की सिद्धि का रहस्य शब्द और इसके शरीर (प्रतीक) अक्षर और इसके प्रतिरूप में समीकरण पैदा करना है, शैव विद्या को वर्णमाला का नाम देते हैं- ''न विद्यामातृ- काऽपरा'', अत: अक्षरों की उत्पत्ति और उन्हें मन्त्र बनाने के लिए चयनविधि, तथा इस मन्त्र का उच्चारण, यही इस प्रथमस्तव के मोटे तौर पर विषय हैं, इन अक्षरों की ज्ञानदात्री माता का रूप दिया गया है, जो अपनी सन्तान का प्रत्येक वर पूरा करती है, ये अक्षर तथा इनके प्रतिरूप मूलाधार-प्रसूत है, यहां ये कुण्डलिनी ''आल्ती मारे सांप'' की तरह एक-दूसरे से सटे हुए हैं। इस कुण्डलिनी के जागने पर यह द्वादशदल पार करके ब्रह्मरन्ध्र तक ऊपर चढ़ जाती है, और फिर इसी क्रम से पुन: ''कन्द'' अथवा मूलाधार में लौट आती है।[22] वास्तव में यह सारी प्रक्रिया आत्मानु:-भवाश्रित है, रेचक, कुम्भक तथा पूरक नामक सांसों का व्यायाम है, इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम वाली नाड़ियों में से बहने का अनुशासित ढंग है, स्पष्टत: यह अभ्यास कठिन तथा दुरूह है, और कवि इस बात को समझता है कि पाठक-गण इस प्रकार के दुष्कर उपदेश से घबरा से जाएंगे, अत: उन्हें रिझाने के लिए उसने जान-बूझकर इस स्तव का नाम ''लघु'' रखा-बहुत ही सरल, मन्त्रसिद्धि के प्रति आकृष्ट करने के लिए ही रचनाकार ने इसे ''लघु'' समझा है और साधकों को साथ ही यह प्रेरणा भी दी है कि यह मानसिक अनुशासन गुरु (भारी, दुरूह) न होकर लघु है। कई आचार्य समझते हैं कि यह स्तव किसी भक्त ''लघु'' अथवा ''लघुभट्टारक'' की कृति है, अत: इसका नामकरण उसी के नाम पर किया गया है।[23]

दूसरे स्तव का नाम ''चर्चास्तव'' रखा गया है, इसमें आदिशक्ति के विश्वमय रूप की चर्चा की गई है। इसमें जगन्माता से जन्म और पुनर्जन्म की बेड़ियां काटने का सविनय अनुरोध किया गया है[24], साथ ही इस स्तव में पराशक्ति का साकार वर्णन दिया गया है, ताकि साधक उसके इस रूप से भी परिचित होकर आगे चलकर दार्शनिक तत्त्वों को समझने के लिए मानसिक तैयारी कर सकें। स्थूल-वर्णन वास्तव में सूक्ष्म-निरूपण की पहली सीढ़ी है।

तीसरे स्तव को ''घटस्तव'' कहा गया है, स्पष्टतया घट शब्द घट् धातु से बना है जिसका अर्थ जोड़ना, इकट्ठे करना तथा एक करना है। इस स्तव में शिव और शक्ति का संघटन दिखाया गया है, यहां पर अप्रस्तुत जिसका वर्णन प्रथम स्तव में किया गया है, और प्रस्तुत जो दूसरे स्तव का भावपक्ष है, इन

दोनों का विलय दिखाया गया है, जैसे जल और घट (घड़ा), यही परापरदशा[25] अथवा भेदाभेद विमर्शनात्मकता[26] है, जिसकी समानार्थक सदूघा भी है, योगिक परिभाषा में घट को शरीर माना गया है, और इसके अन्दर जल की आत्मा विद्याशरीर की व्याख्या प्रथम स्तव में की गई है, दूसरे स्तव में इसकी आत्मा का निर्देशन किया गया है, और तीसरे में इन दोनों का समीकरण, अत: घटस्तव इसी परिवेश में सार्थक बन जाता है। साधक जब इस दशा को प्राप्त होता है तो उसे यज्ञ, दक्षिणा इत्यादि व्यर्थ आडम्बरों से अपनी कीर्ति संजोने की अपेक्षा नहीं रहती, शब्द और अर्थ, नाद तथा बिन्दु, अक्षर और इसका प्रतिरूप, परा तथा अपरा, विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण, भेद तथा अभेद का एक दूसरे में विलय ही शिव और शक्ति का एक हो जाना कहलाएगा, प्रथम स्तव में पराभक्ति, द्वितीय में अपराभक्ति तथा तृतीय में परम्परा भक्ति का विशद रूप दिखाया गया है।[27]

चौथा स्तव "अम्बास्तव" कहलाता है, अम्बा अथवा माता की यह स्मृति है, परन्तु यहां पर "अम्बा" का अर्थ "ज्येष्ठा" तथा "रौद्री" के प्रसंग में निर्धारित करना अधिक संगत होगा, शब्दों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में "तन्त्रसद्भाव" का कथन है कि "रौद्री" इसके उच्चारण की पहली स्थिति है, यह वह दशा है जब अक्षर का बीज फूटता है, और इसके फलस्वरूप शारीरिक और मानसिक क्रिया आन्दोलित हो उठती है, "ज्येष्ठा" इस अक्षर के स्वरूप लेने को कहते हैं, और "अम्बा" वह अक्षर है जो इन दो पहली स्थितियों से गुजर कर बोलने के लिए होठों पर आ जाता है।[28] अत: अम्बास्तव में अक्षर की महिमा का वर्णन है, जो अकेले अथवा अन्य अक्षरों से मिलकर मन्त्र का रूप धारण करते हैं। "अम्बा" अथवा "मातृका" समानार्थक हैं, परन्तु मातृका को विद्या माना गया है, अत: इस दृष्टिकोण की पुष्टि कवि स्वयं इस स्तव के पहले ही श्लोक में करता है।[29] इसमें विद्या के गुण गाए हैं और इसे आदि प्रकृति अथवा आदि शक्ति की संज्ञा दी गई है।

पांचवें स्तव को "सकलजननीस्तव" की संज्ञा दी गई है, इस समस्त पद "सकलजननी" की व्याख्या अनेक विधियों से की जा सकती है, यह "सकलभुवन माता"[30] का पर्याय होने के कारण कुण्डलिनी के आरोह और अवरोह का द्योतक है, शैवों की भाषा में "भुवन" वह पड़ाव है जो "कन्द" से आरम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्र में समाप्त होते हैं, इन्हीं में से जागृत कुण्डलिनी ऊपर की ओर चढ़ने लगती है, और तब ब्रह्मरन्ध्र का स्पर्श करके कन्द

(मूलाधार) में पुनः लौट आती है।[31] ''सकल'' का अर्थ ''सकल जपविधि'' भी हो सकता है, जिसमें मन्त्रोच्चारण हस क ल र व्यंजनों द्वारा किया जाता है, यह ''निष्फल'' जपविधि का प्रतीप है[32], ''सकल'' का भाव ''सकला'' कलाओं सहित पूर्ण-चन्द्र भी होता है, जननी तो माता है, जन्मदात्री, ''सकल'' सब जगत की--चर और अचर की, अतः ''सकलजननी'' जगन्माता भी कहलायेगी, शैवों के मतानुसार महाविद्या ही जगन्माता है[33], जो वाक् और तर्क से परे है, उसके गुण सृष्टि, पुष्टि और संहार माने गये हैं, इन तीनों की एकाकारता उसके विराट् स्वरूप में ही परिलक्षित होती है, अतः यह अनेकता में एकता की प्रति-मूर्ति है।

पंचस्तवी में पराशक्ति को ''त्रिपुरसुन्दरी'' नाम भी दिया गया है, इस तथ्य की समीक्षा करनी भी इस सन्दर्भ में उचित दिखाई देती है। त्रि का अर्थ तीन है और पुर के अनेक-अर्थों में शरीर का भी इस शब्द से बोध होता है, अतः इस समास का विग्रह ''कोई ऐसी सुन्दरी जिसके तीन शरीर हों'' के रूप में भी किया जा सकता है, अथवा जिसके शरीर में तीनों लोकों का सौन्दर्य सिमटा हुआ हो। पंचस्तवीकार ने स्वयं इस पद की इस तरह व्याख्या की है- तीन देव-ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीन प्रकार की अग्नि--घर में, हवन की, चिता की, तीन शक्तियां---इच्छा, ज्ञान, क्रिया, तीन मूल स्वर, अ, इ, उ, तीन लोक ---भूः भुवः, स्वः, तीन वेद--ऋक्, यजुर् तथा अथर्ववेद, इसी प्रकार अन्य लौकिक तथा अलौकिक तत्त्वों में भी इस ''तीन'' की संख्या का समाविष्ट होना दिखा कर कवि इस परिणाम पर पहुंचा है। यह त्रिगुणात्मकता वास्तव में आदि शक्ति के प्रपंच सांसारिक रूप है, अतः इसे ''त्रिपुर-सुन्दरी'' नाम देना यथार्थ होगा।[34]

''प्रपंचसार'' में अम्बिका को ही त्रिपुरा माना गया है, क्योंकि इसमें मूल स्वर अ, इ,उ को ही सर्वोपरि समझा गया है।[35]

''त्रिपुरार्णवतन्त्र'' में कहा गया है कि आदि शक्ति सुषुम्नता, पिंगला तथा इड़ा तीन नाड़ियों में वास करती है, और ये वास्तव में मन, बुद्धि और आत्मन् के प्रतीक है, इसीलिए इसे त्रिपुरा अथवा त्रिपुरसुन्दरी नाम से विभूषित किया गया है। ''कालिका पुराण'' का मत है कि सारा संसार त्रिगुणात्मक है, अतः इसकी प्रेरक पराशक्ति के भी तीन रूप होने अनिवार्य है, अभी तो इसका नाम ''त्रिपुरा'' है। ''वामकेश्वर तन्त्र'' में कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और

रुद्र, तथा इच्छा, ज्ञान और क्रिया का मूर्तिमान स्वरूप त्रिपुरसुन्दरी है।

''वाराहपुराण'' में इसे अक्षर की तीन अवस्थाओं रौद्री, ज्येष्ठा तथा अम्बा का प्रतीक माना गया है। कई आचार्यों ने इसे आदिशक्ति का व्यक्त, अव्यक्त तथा व्यक्ताव्यक्त रूप भी माना है, अत: हम यह कह सकते हैं कि त्रिपुरसुन्दरी आदि शक्ति का वह नाम है जो संसार में निहित त्रिगुणात्मकता का अकाट्य प्रमाण है। हिन्दू प्रतिभा ने हर युग में अव्यक्त को व्यक्त रूप देने में कोई भी कसर उठाकर न रखी है, इसी तरह आदिशक्ति के तीन गुणों को उन्होंने त्रिपुरसुन्दरी की साकारता प्रदान की। ''त्रिपुरापूजन'' कश्मीर में अभी भी पण्डितों के एक सम्प्रदाय ''तिकुओं'' में चालू है, सम्भवत: ऐसे कश्मीरी पण्डितों को ''तिकू'' इसलिए कहा गया है कि वे ''त्रिक्-सिद्धान्त'' में आस्था रखते हैं, और उनकी इष्टदेवी त्रिपुरा अथवा त्रिपुरसुन्दरी है, त्रिपुरारि--शिव--की अर्धांगिनी के रूप में त्रिपुरा-पूजन वास्तव में शिव और शक्ति के विलय का बोध-चिन्ह है।

पंचस्तवीकार अपने असली नाम के प्रति मौन है, परन्तु इससे आश्चर्य-चकित होने को कोई भी आवश्यकता नहीं, संस्कृत साहित्य के दिग्गजों ने भी आत्म-विज्ञापन के प्रति शिथिलता बरती है, कविकुलगुरु कालिदास इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है, कश्मीर में सामान्यत: ऐसी परम्परा नहीं रही है, इतिपाठों में कवि ने अपना तथा अपने पिता का नाम दिया है, बिल्हण, क्षेमेन्द्र तथा अभिनव-गुप्त आदि मनीषियों ने अपना परिचय पर्याप्त मात्रा में दिया है, परन्तु पंचस्तवी के प्रणेता ने अपनी भक्तिमय कृत्ति को ही अपना परिचय समझा है। भक्ति का अथाह समुद्र जब हिलोरें मारने लगता है, तो उसका शाश्वत संगीत ही कवि की आत्मतुष्टि का संवाहक बन जाता है, ऐसी मग्नावस्था में उसे आत्मविभोरता और आत्म-जागरूकता के बीच की सीमायें कटती-सी दिखाई देती है, अत: उसे अपना नाम देने की न सुध रहती है और न अवकाश, इसीलिए पंचस्तवीकार ने अपना कोई भी परिचय नहीं दिया है।

परन्तु अन्तर्साक्षी के आधार पर, और जहां सम्भव हो बहिर्साक्षी से सहायता लेकर हमें उसका नाम निर्दिष्ट करने की खोज करनी समीचीन दिखाई देती है, सन् 1917 ई० में टी० गणपति शास्त्री ने ट्रिवेण्ड्रम संस्कृत सीरीज के अन्तर्गत पंचस्तवी के प्रथम-स्तव को ''लघुस्तुति'' का नाम देकर प्रकाशित

करवाया, इसमें किसी राघवानन्द की संस्कृत-टीका भी दी गई, टीकाकार ने लघुस्तुति के कवि का नाम लघु भट्टारक दिया है--"अस्या: कवेनाम धेयं लघु भट्टारक इत्येवमवगतं "श्रीमल्लघ, भट्टारक:" इति व्याख्यातृ वाक्यात् ।"[36] टी० गणपति शास्त्री ने इसी नाम का समर्थन किया है जैसा ऊपर दिये गये संस्कृत-अनुच्छेद से स्पष्ट है। उसने इस पंचस्तवी की अन्य टीका का भी उल्लेख किया है जो बहुत ही विपुल तथा लगभग दो हजार श्लोकों पर आश्रित है--"अति विपुला उपद्विसहस्र श्लोकात्मिका इस टीका के रचयिता परमेश्वराचार्य कहे गये है, चूंकि यह टीका अभी प्रकाशित नहीं हुई है अत: इस पर कुछ कहना अथवा इससे कुछ निष्कर्ष निकालने व्यर्थ मालूम पड़ते हैं।[37] परम मेधावी शास्त्री महोदय ने इस "लघुस्तुति" को पंचस्तवी का प्रथम-स्तव नहीं समझा है, अपितु इसे एक स्वतन्त्र रचना, केवल इक्कीस श्लोकों की, माना है, पंचस्तवी का नाम उन्होंने लिया ही नहीं, कश्मीर में प्रचलित "लघुस्तुति" अथवा "लघुस्तव" पंचस्तवी का पहला सर्ग है और इसके साथ चार और सर्ग संलग्न हैं, दक्षिण में केवल एक ही स्तव "लघुस्तुति" का प्रचलन कुछ ऐसे प्रश्नों को जन्म देता है जिसका समाधान किया जाना आवश्यक है।

यह बात तो सर्वविदित है कि दक्षिण का शैवमत द्वैतावादी ही है, मध्वाचार्य (सन् 1199-1276 ई०) ने शैवदर्शन को द्वैतात्मक माना है, यह कश्मीर के अद्वैत शैवदर्शन का स्पष्ट रूप से विरोधी है[38], निम्बार्काचार्य (सन् 1162 ई०) ने भेद से ही अभेद की पहचान को संगत ठहराया है।[39] तन्त्र-साहित्य भी द्वैत तथा अद्वैत भागों में बटा हुआ है, अत: कामज, योगज आतद दस तन्त्र भेदशाखा से सम्बन्धित किये गये हैं[40], अत: "लघुस्तुति" का प्रचलन जो आदिशक्ति की अभेदात्मकता का निरूपण करती है दक्षिण में प्रचार कुछ-कुछ विस्मयजनक-सा लगता है, और साथ ही यह उस भूखण्ड की कृति कदापि नहीं हो सकती जहां द्वैतसम्प्रदाय का बोलबाला था। इसलिए यह अनुमान करना ठीक ही लगेगा कि यह कृति कश्मीर से जहां अद्वैत शैवदर्शन का गढ़ था, दक्षिण में ले जायी गयी हो, अत: कदम फूंक-फूंक कर वहां पर इसके पहले स्तव को एक स्वतन्त्र स्तुति का नाम देकर प्रचलित किया गया हो, परन्तु इस प्रकार की मानसिक खाद्य वहां के आध्यात्मिक जलवायु के अनुकूल न थी, अत: इसके अगले चार स्तवों का उल्लेख न किया जाना ही संगत समझा गया, लघुस्तुति का उत्साहहीन अभिनन्दन ही इसका उत्तरदायी समझा जायेगा।

"स्तव" को "स्तुति" में बदलना भी इसी विचार का अनुमोदन करता है, यद्यपि "स्तव" तथा "स्तुति" समानार्थक है, परन्तु साधारण बोलचाल में "स्तव" को "स्तुतियों" का संग्रह ही समझा जाता है, यदि "स्तव" शब्द को वैसे का वैसा ही रख दिया गया होता तो इससे अन्य स्तुतियों के विद्यमान होने का विचार उत्पन्न होता, जिसको टीकाकार स्पष्ट कारणों से गोपनीय रखना चाहता है, इसे केवल एक स्तुति-मात्र का नाम देकर उसने शंकराचार्यकृत "सौन्दर्यलहरी" अथवा अभिनवगुप्त रचित "भैरवस्तुति" की लीक पर चलने को ही श्रेयस्कर समझा।

भट्टारक अथवा भट्टार एक आदरसूचक उपसर्ग है जो बहुत ही विद्वान ब्राह्मणों के अथवा राजाओं के नाम से जोड़ा जाता है। इसका संक्षिप्त रूप "भट्ट" अभी भी कश्मीरी पण्डितों का समानार्थक है। दक्षिण में इस प्रकार की जातीय प्रथा का सम्भवत: अभाव है, कुमारिल्ल के साथ यह "भट्ट" उपाधि उसकी प्रकाण्ड विद्वत्ता के कारण रखी गई, अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि यह "भट्ट" उपाधि रचयिता के कश्मीरी होने के प्रति सशक्त संकेत करती है, "लघु" विशेषण के रूप में प्रत्युत्पन्नमति कहलायेगा, अथवा वैसा कोई व्यक्ति जो आदिशक्ति का लाघव सूक्ष्म निरूपण देने में सिद्धहस्त हो। इसलिए यह अनुमान भी दृढ़ हो जाता है कि यह "लघु" शब्द नाम न होकर एक आदरसूचक शब्द हो जिसका प्रयोग टीकाकार ने पंचस्तवीकार के लिए किया है, यदि "रलयोऽभेद:" के परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो यह टीकाकार का नाम बन जाता है---लाघव से राघव; अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि टीकाकार रचयिता का असली नाम न जानता था, उसे एक आदर-सूचक उपाधि देकर उसने इसमें अपने नाम की ध्वनि का भी आरोप किया।

लक्ष्मीधर ने सौंदर्य लहरी की टीका में पंचस्तवी को "आचार्य कृता" माना है, परन्तु एक स्थान पर इसका नाम कालिदास भी दिया है, परन्तु हम स्पष्ट कारणों से इसे शकुन्तलाकार कालिदास नहीं मान सकते, यह कोई आचार्य था जो अपने आपको काली का भक्त या दास समझता था। कश्मीर राज्य के रिसर्च पुस्तकालय में कई पाण्डुलिपियों पर प्रणेता का नाम लाघवाचार्य, और पृथ्वीधर "शम्भुनाथ शिष्य" दिया गया है। एक पाण्डुलिपि में रचयिता का नाम श्रीरामचन्द्रार्य दिया गया है, कश्मीरी परम्परा इसे अभिनवगुप्त की रचना समझती है, "विद्यार्णवतन्त्र" तथा "सौभाग्यरत्नाकर" में पंचस्तवी से

उद्धृत श्लोकों का प्रणेता धर्माचार्य दिया गया है, ''त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र'' के टीकाकार नित्यानन्द, तथा पंचस्तवी पर एक सारगर्भित टीका लिखने वाले स्थानीय विद्वान् हरभट्ट शास्त्री भी इसी मत का समर्थन करते हैं।[41] चूंकि पंचस्तवी के प्रणेता प्रति विद्वानों का एक मत नहीं, यही तथ्य इस बात की ओर इशारा करता है कि कवि अज्ञात रहना चाहता था जिसका अनुमोदन प्रथमस्तव का अन्तिमत्त्व श्लोक भी करता है, ''लघुस्त्वात्मनि'' का प्रयोग करके वह अपने आप की महत्त्वहीनता दर्शाना चाहता है, और यही विनय की पराकाष्ठा है जिसका उपार्जन सच्ची विद्या से ही सम्भव है। धर्माचार्य अथवा कालिदास वास्तविक नाम न होकर रचयिता के विशेषण मात्र ही कहलायेंगे, कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि जब लिपिकरों ने रचयिता का नाम नहीं देखा तो स्वत: सिद्ध अपना नाम पाण्डुलिपि में अंकित किया, रामचन्द्र इत्यादि ऐसे ही नहीं हैं, अत: यह कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं कि पंचस्तवीकार अज्ञात रहना अधिक श्रेयस्कर समझता है। जब तक कोई और प्रामाणिक सामग्री हमें उपलब्ध नहीं होती, तब तक हमें इसी अनुमान पर सन्तोष करना होगा।

पंचस्तवी तन्त्र-शास्त्र में अद्वैत-शैवदर्शन का प्रतिपादन करती है, इसमें दिए गए श्लोकों के उद्धरण हमें सर्वप्रथम महाराज भोज के ''सरस्वतीकण्ठाभरण'' में मिलते हैं।[42] इस अलंकार-ग्रन्थ का रचना-काल 1030-1040 ई० के बीच माना गया है[43], अत: इस प्रकार का सम्मान पाने के लिए एक तो यह महाराज भोज के समय से बहुत पहले लिखी गई होगी और दूसरी बात यह है कि इसमें अंकित कविता की ख्याति भी प्रतिष्ठित हो गई होगी जिसके लिए स्पष्ट कारणों से बहुत लम्बे समय की अपेक्षा रहती है, इसके अतिरिक्त शंकराचार्यकृत ''सौन्दर्यलहरी'' तथा पंचस्तवी का भावपक्ष एक समान है, अभी तो सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर ने अपने पक्ष के समर्थन में पंचस्तवी से भी लाभ उठाया है, परन्तु यह कहना बहुत कठिन बन जाता है कि इन दो रचनाओं में पहले किसका प्रणयन किया गया, भाषा, भाव तथा मुहावरा समान होने के कारण यह अनुमान लगाना भी संगत है कि ये दोनों कृतियां समकालीन हों, और यह उस समय की बात है जब कश्मीर अद्वैत शिवशक्तिवाद का केन्द्र समझा जाता था। यह तथ्य भी स्वीकारा गया है कि आदिशंकराचार्य यहीं पर आकर शक्ति-पूजन में विश्वास कर बैठे, यहां की लोक-परम्परा में भी यही विश्वास प्रचलित है[44], आदि--शंकराचार्य का समय 788-820 ई० माना गया है[45], अत: पंचस्तवी की रचना भी लगभग इसी समय में हुई होगी। यदि यह भी स्वीकार किया जाए कि

पंचस्तवी सौन्दर्यलहरी के बाद की रचना है, फिर भी इसके प्रणयन की अन्तिम तिथि 1030-1050 ई० के बाद की नहीं हो सकती जिसका उल्लेख हमने ऊपर दिया है, अत: आठवीं शती से बारहवीं शती के बीच इस भक्ति-काव्य का सृजन हुआ होगा, अत: इसका प्रणयन कदापि नवीं शती के बाद का नहीं हो सकता, क्योंकि अलंकार ग्रन्थों में इससे चुने श्लोक उदाहरणों का स्थान जब ही पा सकते थे, जब इनकी ख्याति सुदृढ़ बनी हो और इसे अर्जित करने के लिए सौ डेढ़ सौ वर्ष कुछ भी अर्थ नहीं रखते क्योंकि उस समय यातायात-साधनों की सुलभता इतनी नहीं थी, जितनी आजकल है।

अन्तर और बहिर्साक्षी के आधार पर हमें यह कहने में भी कोई संकोच नहीं कि इसके पांचों स्तव एक ही कवि की कल्पना हैं, प्रत्येक स्तव में भाषा, भाव तथा मुहावरों की पुनरुक्ति इस दिशा में हमारा सार्थक मार्गदर्शन करती है, इसके अतिरिक्त वत्सराज उदयन का गुणगान एक से अधिक स्तवों में किया गया है, कश्मीर नरेश प्रवरसेन का भी इसमें उल्लेख मिलता है जो उदयन के समक्ष रखा गया है[46], ''आप'' शब्द का प्रयोग इस श्लोक में ''प्रवर'' की उदयन की विशेषता मानने से हमें रोकता है, और यह शब्द उदयन के नाम के पीछे न कि आगे जोड़ा गया है, जिससे साफ प्रकट है कि यह दूसरा नाम न कि पहले की विशेषता, और यह प्रवरसेन द्वितीय है जिसका शौर्य चिर प्रसिद्ध था[47], इसके अतिरिक्त प्रत्येक स्तव से भोज, लक्ष्मीधर इत्यादि ने श्लोकों का उद्धरण दिया है, अत: यह बात निर्विवाद बन जाती है कि सम्पूर्ण पंचस्तवी एक ही कवि की रचना है।

वह कश्मीरी था, इस सन्दर्भ में दो राय नहीं हो सकतीं, सर्वप्रथम अद्वैत शैवदर्शन का प्रतिपादन तथा प्रतिफलन यहीं पर हुआ, कश्मीर में ही इसके पांचों स्तव प्राप्य हैं, कश्मीरी ब्राह्मणों की ज़बान पर इसके श्लोक परम्परागत क्रम से दुहराये जाते गए हैं। प्रवरवेन द्वितीय का उल्लेख भी इसी निष्कर्ष के प्रति संकेत करता है। उदयन तो भारत में प्रसिद्ध रहा है, प्रवरसेन को कश्मीर से ब्राहर सम्भवत: कोई भी नहीं जानता, त्रिपुरा-पूजा का चलन कश्मीर में अभी भी हो रहा है, जब कि भारत में अब तान्त्रिकों की इष्टदेवी काली को माना गया है। त्रिपुरा-देवी का एक नाम-भारत में कहीं नहीं चलता, जबकि कश्मीर में यह अभी भी जीवित है। त्रिपुरा का जन्मोत्सव माघ शुक्ल त्रिक् सम्प्रदाय के अनुयायी (कश्मीरी ''तिकू'') आजकल भी बड़े उत्साह से मनाते हैं, नितान्त कश्मीरी जड़ी-बूटियों का वर्णन ''त्रपुसी'' अथवा कश्मीर ''त्रपुर'' भी हमारे इस अनुमान की पुष्टि करता है कि पंचस्तवीकार एक कश्मीरी था।

आदिशक्ति के प्रति कवि की आराधना में जीवन्त श्रद्धा है। उसकी धड़कनें भक्ति की उठान के साथ भाव और कला का ऐसा शाश्वत संगीत पैदा करती है, जो आत्मा के लिए मनभाता खाद्य बन जाता है। आत्मनिवेदन और आत्मसमर्पण का ऐसा मधुर विलय विरले ही दृष्टि में आता है, इसकी परिणति स्वतः सिद्ध आत्मविभोरता में होती है, जिसे शैवों की भाषा में ''शुद्धविद्या'' का नाम दिया गया है।[48]

– 0 –

---

1. पं०1, 15, 2. वही 11/, 31, 3. वही 111, 6, 4..6, 5. शिवसूत्रविर्शिनी, क्षेम-राजकृत-पृष्ठ 45, 6. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र , 7, 20-3 पंचस्तवी , 8, विष्णु पुराण, 9, 2,V, इत्यादि 10. अभिनवगुप्त तंत्रालोक, 11. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, 12. तंत्रालोक, 13. वही, 14. कामिका तंत्र, 15. V, 26, 16. वामकेश्वर तन्त्र, 11 देवी भागवत शिवदृष्टि 11, 2, 3, 17. शिवसूत्र 1, 18, 18. पंचस्तवी 1/, 10, 19. शिवसूत्र विमर्शिनी, 5. 11, 3, 20. 1. II, 21. सोमानन्द, ''शक्ति विज्ञान'', 22. ''लघुस्तुति'', टी० गणपति शास्त्री, ट्रिवेण्ड्रम संस्कृत सीरीज, 1917 ई०, 23. पंचस्तवी 11, 24, 24. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 111/, 1-5, 25. स्वच्छन्दतन्त्र 11/, 95. 26. पंच० 111, 18, 20, 27. क्षेमराजकृत शिवसूत्रविमर्शनी, पृष्ठ 51-54, 28. 11, 29. 4. पंच० 1/1, अन्तिम श्लोक, 30. ''विज्ञान भैरव'', 31. कुलार्णव तन्त्र 1/,, 45-61. 32. महाविद्या जगन्माता रूद्रयामल तन्त्र, 33. पंच० 1, 16, 34. 1, 2, 35. 11/, 11,12. 36. संस्कृत भूमिका में। 38. कश्मीर शैवमत, जे० सी० चटर्जी पृष्ठ 20, 39. ब्रह्मसूत्र टीका, 40. के० सी० पाण्डेय, ''अभिनवगुप्त'' पृष्ठ 75. 41. पंचस्तवी पर संस्कृत टीका, कश्मीर राज्य के रिसर्च विभाग द्वारा प्रकाशित। 42. डा० कागे, संस्कृत अलंकारशास्त्र का इतिहास पृष्ठ 261, 43. वही, 44. शंकर दिग्विजय 1/1, 54-80, 45. डा० राधाकृष्णन, भगवद्गीता की भूमिका, पृष्ठ 16, 46. 11, 7, 47. राजतरंगिणी--111, 361, 48. शिवसूत्र 1, 21.

शैवाचार्य अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त के परवर्ती साहित्यकारों, उसके शिष्यों तथा प्रशंसकों ने इसे ''महामाहेश्वर'' नाम वाली उपाधि से विभूषित किया है, इस सम्मानसूचक शब्द का अर्थ शैवों के अनुसार ''शिव का परमभक्त'' अथवा ''परमशिव'' है। कश्मीर की परम्परा में उस के बहुत-शिक्षित होने की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। उसने शैव-दर्शन का मंथन किया, भगवद्गीता पर शैव-दृष्टिकोण से एक भाष्य लिखा, आनन्दवर्धन के ''ध्वन्यालोक'' पर ''लोचन'' नामक वृत्ति लिखी, और भरत के नाट्य-शास्त्र का सार भी प्रस्तुत किया, इस प्रकार उसकी अप्रतिम विदग्धता ने दर्शन, साहित्य तथा नाट्य-कला पर एक समान अधिकार प्रदर्शित किया। क्षेमेन्द्र स्वयं इस तथ्य को प्रकाश में लाया है कि उसने साहित्य की दीक्षा अभिनवगुप्त से ही ली।[1] साहित्य पर इस शैवाचार्य का इतना अधिकार था कि आचार्य मम्मट जैसा दिग्गज भी उसके नाम के साथ आदर दिखाने के हेतु ''पाद'' शब्द जोड़ता है।[2] ''पाद'' शब्द संज्ञाओं (नामों) के साथ अतीव आदर प्रकट करने के लिए जोड़ा जाता है।[3] भारतीय काव्यशास्त्र में ''रीति'' का प्रतिपादन करने वाले कश्मीरी ''वामन'' ने काव्य-प्रकाश की वृत्ति में अभिनवगुप्त को बुद्धि में सर्वोपरि और अपने सहपाठियों के लिए सांप (भयदायक) कहा है।[4] इन उद्धरणों से यह साफ हो जाता है कि अभिनवगुप्त के प्रति जिस प्रकार की श्रद्धा दिखाई गई है वह सर्वथा समीचीन और उचित है।

परन्तु संस्कृत-साहित्य में हमें इस प्रकार के दो नाम मिलते हैं, प्रथम अभिनव गुप्त कामरूप (आसाम) का निवासी है और शाक्तधर्म से सम्बद्ध है। इसका उल्लेख माधवाचार्य ने अपनी ''शंकर-दिग्विजय'' में किया है।[5] जनश्रुति है कि माधव शंकराचार्य का समकालीन था, शंकराचार्य का समय सर्वसम्मत रूप से 788 से 820 ईसा सन् माना गया है।[6] आसाम का अभिनवगुप्त वस्तुतः शंकर द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद का विरोधी था, बाद में उससे शास्त्रार्थ में पराजित होने पर वह उसका शिष्य बन गया, इस भ्रम की ओर अपेक्षित ध्यान न देने के कारण डा० आफ्रेट ने काश्मीरिक

अभिनवगुप्त की कृतियों में "शाक्त भाष्य" भी रख डाला था।[7] प्राचीन समय में भी इन आचार्यों के नामों के साथ क्रमशः "महामाहेश्वर" और "शाक्त" उपसर्गों के प्रयोग से इन दो के बीच अन्तर स्पष्ट किया गया है। प्रथम तो शैव है और दूसरा शक्ति अथवा देवों का उपासक।

अभिनवगुप्त एक सजग कलाकार है, अतः वह आत्म-परिचय की उपेक्षा नहीं करता। उसने अपनी रचनाओं में अपने वंश-वृक्ष तथा कुछ तिथियों का वर्णन भी किया है, संस्कृत के अन्य साहित्यकारों की तरह वह परदे की ओट में रहना नहीं चाहता, और पाठकों को अनुमान की माथापच्ची से दो-चार करना नहीं चाहता। अपनी "परात्रिंशिका विवरण" में वह अपने पूर्वज का नाम स्पष्टतः "अत्रिगुप्त" देता है, जो मूलतः गंगा यमुना के अन्तर्द्वीप-अन्तर्वेदी- का रहने वाला था।[8] आगे वह तन्त्रालोक" में अत्रि गुप्त के अलौकिक गुणों का वर्णन करते हुए लिखता है कि इन्हीं विशेषताओं से आकृष्ट होकर महाराज ललितादित्य उसे वहां से कश्मीर लाया था,[9] ललितादित्य का राज्य काल सन् 755-761 ई० माना गया है, उसका दूसरा नाम मुक्तापीड़ भी था और दिग्विजय के प्रति उत्सुक था।[10] इस चक्रवर्ती राजा ने कन्नौज के नरेश यशोवर्मन को पराजित किया और वहां से लूट के धन के साथ अत्रिगुप्त को भी यहां लाया।[11] अभिनवगुप्त के शब्दों में, "महाराज ने उसे कुबेर का अलका की तरह सुन्दर नगरी (श्रीनगर) में लाकर, उसके रहने के लिए वितस्ता के तट पर और शीतांशुमौलि (शिव) मन्दिर के सन्मुख एक भव्य भवन बनवाया, और उसे जीवन-यापन के लिए जागीर भी दे दी।"[12] अभिनवगुप्त के दादा वाराहगुप्त तथा अत्रिगुप्त के बीच लगभग डेढ़ सौ वर्षों का अन्तर है, जिस अवधि के सम्बन्ध अभिनवगुप्त मौन है, किसी अन्य व्यक्ति का नाम नहीं देता, अत्रिगुप्त का उल्लेख करके वह झट अपने दादा वाराहगुप्त का वर्णन करता है। इस प्रकार उसकी वंशावली अपूर्ण-सी रह जाती है। "तन्त्रालोक" की वृत्ति में वह अपने पिता का नाम "नरसिंहगुप्त" और माता का नाम "विमलकला" लिखता है।[13]

यहां पर हमें स्व० मधुसूदन कौल के उस दृष्टिकोण की ओर संकेत करना संगत जान पड़ता है, जिस में उन्होंने गलती से अभिनवगुप्त के पिता का नाम लक्ष्मणगुप्त दिया है।[14] परन्तु स्वामी लक्ष्मण जी ने ठीक तौर पर इनके पिता को नरसिंहगुप्त कहा है।[15] चूंकि अभिनवगुप्त ने निर्विरोध रूप से अपने माता-पिता का नाम दिया है, अतः इस संबंध में किसी अन्य तर्क

अथवा अनुमान की आवश्यकता जान नहीं पड़ती।[16] लक्ष्मणगुप्त वास्तव में अभिनव गुप्त का गुरु था जिसे उसने प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की दीक्षा दी थी, इसका उल्लेख अभिनवगुम्त ने इस प्रकार किया है--

''श्रीमल्लक्ष्मर्णेगुप्तदर्शितपथ: श्रीप्रत्यभिज्ञाविद्यौ।''

श्री लक्ष्मणगुप्त ने मुझे प्रत्यभिज्ञादर्शन का रास्ता दिखाया।

अभिनवगुप्त के विषय में कल्हण का मौन समझ में नहीं आता, उसने तीन ''अभिनवों'' का नाम लिखा है, परन्तु ''गुप्त'' शब्द किसी के साथ जोड़ा नहीं है। पहला ''अभिनव'' उसके अनुसार दिविर अथवा लिपिकर है[17], दूसरा ''अभिनव'' संग्रामराज के शासनकाल में कय्यमण्टक का मुंहबोला भाई है,[18] और तीसरा एक भूमिपाल अथवा डामर है।[19] राजतरंगिणी में कहीं भी अभिनवगुप्त का नाम एक प्रसिद्ध शैवाचार्य अथवा वृतिकार या आलोचक के रूप में नहीं आता है। कल्हण् ने कतिपय स्थलों पर मुक्ताकण, शिवस्वामी, आनन्दवर्धन, वामन और रत्नाकर का उल्लेख किया है, विशेषकर आनन्दवर्धन के नाम के साथ अभिनवगुप्त का नाम आ जाना स्वाभाविक था, क्योंकि उसके ''ध्वन्यालोक'' पर इसी बहुविश्रुत विद्वान् ने वृत्ति लिखी है, इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त सरस्वती की आराधना में इतना तल्लीन था कि उसे लक्ष्मी-पूजन के लिए न रुचि थी और न अवकाश: वह किसी राजदरबार से सम्बद्ध न था, अत: कल्हण ने उसके उल्लेख करने में कोई जागरूकता नहीं दिखाई, कल्हण् का विषय राजाओं का इतिहास देना था, अत: अभिनवगुप्त के प्रति उसका मौन कुछ-कुछ यथार्थ जान पड़ता है, परन्तु अभिनवगुप्त ने जो ख्याति अपने जीवन-काल में अथवा इसके उपरान्त पाई, कल्हण् इससे अप्रभावित न रहा होगा, फिर भी इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहता, यह एक अनबूझी पहेली-सी जान पड़ती है, आगे चलकर इस दिशा में, सम्भव है, और खोज की जाए तो इस अक्षम्य प्रमाद का उत्तर निकल सकता है।

अपने जन्म-मरण अथवा उन वर्षों के सम्बन्ध में जब अभिनवगुप्त कश्मीरी जन-मानस को अपनी अपूर्व विदग्धता से अभिषिक्त कर रहा था, हमें अधिक अनुमान करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, स्वयं इस जागरूक कलाकार ने हमारे लिए कुछ ऐसी चाबियां छोड़ रखी हैं जिनसे हम उनके जीवन के ताले को बड़ी सुगमता से खोल सकते हैं। ''बृहती

विमर्शिनी'' के अन्तिम श्लोक में वह इसका रचनाकाल नवेवां वर्ष देता है, जब कलियुग के 4115 वर्ष बीत चुके थे, इस कलि संवत् में से 25 वर्ष काटने पर कश्मीर का स्थानीय सप्तर्षि संवत् निकल आता है, यह समय 4090 बैठता है और उसके द्वारा ''नवतितमे'' का प्रयोग ठीक दिखाई देता है, आजकल भी हम अंग्रेज़ी सन् से शताब्दियां निकाल कर केवल वर्ष का नाम देते हैं, जैसे 1977 के स्थान पर केवल 77 लिखा जाता है, इसी प्रथा का पालन अभिनवगुप्त ने भी किया हुआ है। ''भैरवस्तोत्र'' में पुनः अन्त पर इसने यह रचनाकाल दिया है-

''वसुरसपौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवमिदमकरोत''

''अभिनवगुप्त से यह स्तुति पौष मास के कृष्णपक्ष की दशमी को किया, जबकि संवत् सप्तर्षि रस-[20] और वसु-8,'' अर्थात् स्थानीय सप्तर्षि संवत् 68 था।

निश्चय ही यह संवत् 4068 रहा होगा, जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त उसने ''समस्तोत्र'' में यह काल-गणना की है-

''षट्षठिकेनामकेवर्षेनवम्यामसितेऽहनि।

मयाऽभिनवगुप्तेन मार्गशीर्ष स्तुतः शिवः॥''

''मुझ अभिनवगुप्त ने मार्गशीर्षमास की कृष्णपक्ष नवमी को यह शिवस्तुति लिखी समय 66 वर्ष था'', अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिनवगुप्त का सूचनात्मक काल 4066 से 4090 सप्तर्षि संवत् तक रहा होगा, परन्तु हम विश्वास से यह नहीं कह सकते कि ''क्रमस्तोत्र'' उनकी पहली रचना थी, क्योंकि इसकी लेखनी से निकले हुए ग्रन्थों की संख्या बहुत है और इनमें विषय-साम्य भी है, अतः इनका क्रम निश्चित करना दुरूह बन जाता है, इसलिए यह अनुमान करने में कोई आपत्ति न होगी कि ''क्रमस्तोत्र'' उसकी पहली रचना नहीं होगी, क्योंकि इससे प्रणीत ग्रन्थों की क्रम-गणना में इस स्तोत्र की संख्या 13 दी गई है।[21] अतः इससे पहले 12 ग्रन्थों के प्रणयन में 25 वर्ष लगना कोई बड़ी बात नहीं, इस अनुमान के अनुसार हम उनका रचनाकाल 25 वर्ष पीछे धकेलने में युक्ति युक्त हैं, इस तरह यह समय 4041 से 4090 सप्तर्षि संवत् बन जाता है जो अंग्रेज़ी सन् के अनुसार 965 से 1015 हो जाता है। इस प्रकार के प्रौढ़ तथा गहन विषयों के सृजन में आयु की प्रौढ़ता भी अपेक्षित है, अतः हम निर्भीकता

से कह सकते हैं कि अभिनवगुप्त की आयु इन पुस्तकों की रचना करने के समय कम-से-कम 30 वर्ष रही होगी यदि इससे कुछ अधिक नहीं, अभिनवगुप्त ने साहित्य तथा दर्शन की दीक्षा लेने के लिए 21 गुरुओं की शरण ली है, जिनका उल्लेख वह स्वयं करता है, अतः शिक्षा ग्रहण करने में जन्म के पहले तीस वर्ष लग जाना एक न्यूनतम अवधि ही माना जाएगा। इस प्रकार हम बिना किसी अपवाद के कह सकते हैं कि अभिनवगुप्त का जन्म ई० सन् 935 के आसपास रहा होगा, और 1015 ई० सन् के पश्चात् चूंकि हमें अभी तक उनसे प्रणीत कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है, अतः यह वर्ष उन की मृत्यु-तिथि माना जायेगा। सम्भव है कि वह इसके बाद भी जीवित रहा हो और केवल पठन-पाठन में लगा रहा हो, कश्मीर में अभी भी एक जनश्रुति प्रचलित है कि यह आचार्य "भैरवस्तोत्र" का गायन करते-करते अपने 1200 शिष्यों के साथ बीरवा[22] ग्राम की एक गुफा में प्रविष्ट हुआ और फिर बाहर न निकल आया। इससे यह अनुमान लगाना सुकर बन जाता है कि इस शैवाचार्य ने मृत्यु की प्रतीक्षा किये बिना ही जीते जी इसका वरण किया। अभिनवगुप्त में ज्ञान-विज्ञान सीखने के लिए अतीव मानसिक प्यास थी।

इसीलिए उसने बहुत सारे गुरुओं से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में दीक्षा ली। स्वयं उसके ही कथनानुसार उसने इन गुरुओं के पैरों में बैठ कर अपना ज्ञानवर्धक किया-

	नाम	विषय
अ)	नरसिंहगुप्त (उसका पिता)	व्याकरण
आ)	वैन्यनाथ	द्वैताद्वैत तन्त्र-शास्त्र
इ)	भूतिराजतनया	द्वैत शैव दर्शन
ई)	भूतिराज	ब्रह्मविद्या
उ)	लक्ष्मणगुप्त	प्रत्यभिज्ञा
ऊ)	इन्दुराज	ध्वनि
ए)	भट्ट तोत	नाट्यशास्त्र
ऐ)	शम्भूनाथ	तन्त्रविद्या

अभिनवगुप्त ने अन्य और गुरुओं से भी शिक्षा प्राप्त की, परन्तु इनके सम्बन्ध में विषय नहीं दिये गये हैं। उसकी सब रचनाओं से कम-से-कम 19 गुरुओं का हमें नाम मिलता है।

दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी कश्मीर में संस्कृत के उन्नयन के हेतु बहुत ही प्रसिद्ध है। धर्म का प्रभाव भी इस समय में उल्लेखनीय रहा है। धार्मिक नवचेतना का एक नया युग प्रारम्भ हो चुका था, जिसका माध्यम संस्कृत भाषा बनी, अतः इसका प्रचार और प्रसार प्रगल्भ मात्रा में होने लगा। धर्मेतर साहित्य का सृजन भी हुआ और इसकी परख के लिए नवीन मानदण्ड नियत किए गए, काव्य, आलोचना, इतिहास तथा दर्शन की श्लाघनीय मीमांसा की गई और इस प्रकार संस्कृत-देववाणी- का यथोचित शृंगार करने में यहां के पण्डित किसी से भी पीछे न रहे।

अभिनवगुप्त का कुल ही वाग्देवी का कृपा-पात्र था। उसके चाचा वामनाचार्य काव्यमर्मज्ञ थे और इसी ने अपने भ्रातृ-पुत्र का इस दिशा में मार्ग दर्शन किया। ''अभिनव-भारती''[23] में अभिनवगुप्त ने इसका नाम लिया है और इसे अपने गुरुओं की सूची में रखा है। स्वयं अपने छोटे भाई मनोरथ को अभिनवगुप्त ने ही दीक्षा दी। सम्भवतः वह उसकी शिष्य-परम्परा में पहला माना जाएगा।[24] उसके पांचों चचेरे भाई-क्षेम, उत्पल, अभिनव, चक्रक और पद्मगुप्त भी विद्वान् थे, अगर क्षेम ''स्पन्द निर्णय'' के क्षेमराज को माना जाए तो उस की विद्वत्ता में कोई संशय नहीं रह जाता है। उसके पितृवर्य नरसिंहगुप्त तो शास्त्रों के प्रत्येक क्षेत्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे और शिव के परमभक्त थे[25]। अतः घर पर ही इस प्रकार की बौद्धिक सजगता ने अभिनवगुप्त को उस बृहत्कार्य के लिए तैयार कर दिया था, जिसके लिए समय प्रतीक्षा में था। अतः इस बात में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ''जयरथ''[26] इसे ''योगिनीभू'' के नाम से विभूषित करता है। इस उपाधि का अर्थ यह है कि उसके माता-पिता ने साक्षात शक्ति और शिव होकर तथा भोग-कामना से ऊपर उठकर इसे जन्म देने के लिए सहवास किया, ऐसी सन्तान शैवदर्शन की व्याख्या करने के लिए एक उपयोगी साधन समझी जाती है। ''परमार्थ सार''[27] के व्याख्याता ''योगराज'' ने इसे ''भैरव'' समझा है, इसलिए कश्मीरी पण्डितों में यह विश्वास कि अभिनवगुप्त मानव रूप धारण किए हुए वस्तुतः भैरव था, अस्थानीय नहीं कहलाया जा सकता।

अब हम उस स्थान के विषय में कुछ कहेंगे जहां सम्भवत: अभिनवगुप्त ने रह कर अपने ग्रन्थों की रचना की होगी। उसकी ही साक्षी के अनुसार हम जानते हैं कि महाराज ललितादित्य ने अत्रिगुप्त के लिए वितस्ता के किनारे एक भव्य भवन बनवाया था। इसका उल्लेख हमने पहले किया है, यद्यपि वहां पर स्पष्ट रूप से ''वितस्तारोधसि'' (वितस्ता के तट पर) अंकित है, परन्तु स्वर्गीय पं० महेश्वर राजदान के पास ''तंत्रालोक'' की हस्तलिखित प्रति है उसमें ''वैतस्तमूर्हि'' (वितस्ता के सिर पर) लिखा हुआ है, जिसका सामान्य अर्थ वितस्ता का स्रोत भी बन जाता है, परन्तु वितस्ता का स्रोत नीलनाग (वेरीनाग) माना जाता है और यह प्रवरपुर (श्रीनगर) से लगभग 80 मील दूर है। अभिनवगुप्त ने साफ तौर पर प्रवरपुर का नाम लिखा है, जान पड़ता है कि ''वैतस्तमूर्हिन'' इसमें प्रक्षेप के रूप में आया हो।

अभिनवगुप्त ''मालिनी विजय'' तन्त्र की वार्तिका के पहले श्लोक में ही अपने निवास स्थान का इस प्रकार परिचय देता है--

प्रवरपुर नामधेये पुरे पूर्व काश्मीरिकोद्यभिनवगुप्त:।

मालिन्यामादिमेवाक्ये वार्तिकमेतद्रचयतिस्म॥

''काश्मीरी अभिनवगुप्त ने प्रवरपुर (श्रीनगर) नाम वाले शहर के पूर्वी भाग में ''मालिनी विजय'' के प्रथम श्लोक पर यह वार्तिका रची।'' इससे यह प्रकट होता है कि उस समय श्रीनगर के चार भाग दिशाओं के आधार पर किये गये थे, और यह शैवाचार्य इसके पूर्वी भाग में निवास करता था। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह आवास पैतृक था अथवा अभिनवगुप्त ने स्वयं बनवाया था। ''तन्त्रा-लोक'' में इसका किसी अन्य उपनगर में जाने के प्रति भी संकेत है। वहां जाने के लिए इसके शिष्य ''मन्द्र'' ने उससे बिनती की थी---

विक्षिप्त भावमसौ चिकीर्षन् मन्द्र: स्वके पुरवरे स्थितिमस्य वव्रे।[28]

''मन्द्र'' ने इसके विक्षिप्त भाव को दूर करने के लिए उसे अपने सुन्दर नगर में आने की विनती की।'' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्रीनगर के पूर्वी भाग में बहुत चहल-पहल रही होगी, जिस कारण अभिनवगुप्त शान्ति न पा रहा था। अत: ऐसी जगह जाने की आवश्यकता थी जो अपेक्षाकृत

शान्त हो और ऐसे वातावरण में ही वह दर्शन जैसे किलष्ट विषय पर एकाग्रचित होकर लेखनी उठा सकता। परन्तु कल्हण् के कथनानुसार हम यह जानते हैं कि ललितादित्य ने प्रवरपुर के आस-पास तीन नये शहर बसाये थे, ये थे परिहासपुर, ललितपुर और लोकपुण्य[29], परन्तु जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है परिहासपुर आमोद-प्रमोद का केन्द्र था, अत: यह शान्त नगरी कभी भी हो नहीं सकती थी। ललितपुर के प्रति महाराज उदासीन था क्योंकि यह नगरी उसके नगर-निर्माता ने उसकी अनुपस्थिति में उसकी आज्ञा बिना ही बना डाली थी,[30] अत: हां जनसंख्या बहुत कम रही होगी क्योंकि इस नगरी को राजाश्रय प्राप्त न हुआ। इसी कारण यह शान्त भी रही होगी और "मन्द्र" वहीं का वासी रहा होगा। अपने गुरु की व्याकुलता देखकर उसने उसे वहीं रहने का आग्रह किया होगा। तीसरी नगरी "लोकपुण्य" विष्णु के नाम पर अग्रहार के रूप में सुरक्षित रखी गई थी।[31] अत: हम अनुमान लगा सकते हैं कि अभिनवगुप्त ललितपुर ही चला गया हो जिसके लिए कारण स्पष्ट थे।

यहां पर यह कह देना भी संगत होगा कि अभिनवगुप्त ने अपने जीवन-काल में महाराज यशस्कर, संग्रामदेव, क्षेमगुप्त, महारानी दिद्दा, तथा संग्रामराज का शासन देखा, परन्तु इन शासकों ने किसी उल्लेखनीय नगरी का निर्माण नहीं किया। ललितादित्य से निर्मित नगर ही उस समय लोगों में लोकप्रिय रहे। संग्रामराज के राज्यकाल 1003-1028 सन् में भी परिहासपुर का महत्त्व वैसे का वैसा था, प्रधानमन्त्री "तुंग" को हटाने के लिए यहां के ब्राह्मणों ने अनशन किया था। दो सौ वर्ष बीतने पर भी इस नगर का आदर अक्षुण्ण था, अत: हम निर्विवाद रूप में कह सकते हैं कि अभिनवगुप्त ललितपुर में ही रहा होगा, इस स्थान का कश्मीरी नाम "ल्यतपुर" है।

परन्तु इस सन्दर्भ में एक अनुमान यह भी हो सकता है कि जब अभिनवगुप्त ने जीते-जी ही बीरवा की गुफा में प्रवेश किया, तो सम्भव है कि वह इसके समीप ही कहीं रहता रहा होगा। ललितपुर से चल कर यहां तक आना बुद्धिग्राह्य नहीं। परन्तु कश्मीर के राजाओं ने श्रीनगर (बाराहमूल) बारामूला सड़क पर ही अपने नगर बसाये, कोई भी इस राजमार्ग के दायीं या बायीं ओर अन्दर तक न गया। प्रताप बर्मन ने "प्रतापपुर" (कश्मीरी तापर)'[32] और शंकरवर्मन ने "पाटण"'[33] आज का पटन बसाया

था। इनसे पूर्व कनिष्क[34] ने कनिष्कपुर आधुनिक कानिसपोर और हुविष्क[35] ने ''हुविष्कपुर'' (कश्मीरी बुश्कोर) इसी वाराह क्षेत्र में निर्मित किए थे, अत: जान नहीं पड़ता कि अभिनवगुप्त बीरवा के समीप कौन सी नगरी में रहा होगा, क्योंकि ऐसी किसी भी नगरी का नाम हमें आज तक प्राप्य सामग्री के आधार पर नहीं मिला है, परिहासपुर यद्यपि सड़क के बीरवा के उतने समीप नहीं, परन्तु उड्डरो[36] से होकर जाने में यहां तक पहुंचने में अधिक समय नहीं लगता, तो इस प्रकार इस विचार को बल मिलता है कि ''मन्द्र'' ने उसकी उदासी (विक्षिप्त भाव) दूर करने के लिए उसे परिहासपुर में रहने की सलाह दी हो, जो उसका स्वयं रहने वाला था। ऐसे दुरूह और कठिन विषयों पर लिखने के बाद अभिनवगुप्त को मन-बहलावे की अतीव आवश्यकता रही होगी। परिहासपुर में इस प्रकार की सामग्री प्रचुरता से प्राप्त थी, जीवन के अन्तिम दिनों में वह वहीं चला गया हो, और जब उसे अपनी ज्ञान-चक्षु से अन्तिम क्षण नजर आये तो वह अपने शिष्यों सहित उड्डरों के रास्ते बीरवा की गुफा में प्रविष्ट हुआ होगा। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने रहने के स्थान एक के बाद तीन बदलाये-प्रथम श्रीनगर, दूसरा ललितपुर और तीसरा परिहासपुर।

इससे पूर्व कि अभिनवगुप्त का शैव-दर्शन को योगदान की बात की जाये, यही संगत जान पड़ता है कि कश्मीर में ''शिवपूजा'' के आदिस्रोत का यथेष्ट वर्णन किया जाये, इसी का साथ कश्मीरियों के प्राचीनतन धर्म के सम्बन्ध में कई तथ्य प्रकाश में आ जायेंगे।

कश्मीर का सबसे पुरातन इतिहास-ग्रन्थ ''नीलमतपुराण'[37] है। इसमें स्पष्ट रूप से अंकित है कि उस समय यहां शिव और शक्ति की पूजा की जाती थी, परन्तु इनके साथ-साथ अन्य देवताओं-गणेष पौराणिक देवता, वैदिक देवता तथा बुद्ध का अवतार रूप में भी पूजन किया जाता था[38], इससे साफ है कि कश्मीर का प्राचीन धर्म विविध देवताओं की भक्ति पर आश्रित था, परन्तु प्रधानता शिव-पार्वती-पूजन की ही थी। इतना ही नहीं, आदिवासियों के देवता ''निकुम्भ'' इत्यादि भी अपनाये गये थे। श्री एस० सी० रे इस सन्दर्भ में लिखते हैं-''सम्भव है कि कश्मीर के आदिमवासी किसी प्रकार के आदिम विश्वासों में श्रद्धा रखते थे, तीसरी शताब्दी पूर्व ईसा बौद्धमत ने भी यहां कुछ-कुछ पैर जमाये थे, परन्तु हिन्दू देवताओं में शिव का आगमन

या तो घाटी में ही मूल रूप से ही हुआ, या यह शाक्य राजकुमार से पूर्व ही यहां प्रविष्ट हो चुका था।''[39]

इस दिशा ने कश्मीरी जनता को ''नाग'' नाम से पुकारे जाने पर इनका सर्प-पूजन से सम्बन्ध जोड़ा जाना स्वाभाविक था, परन्तु संस्कृत में ''नाग'' शब्द का अर्थ केवल सांप ही नहीं, अपितु निरंकुश, हाथी, बादल तथा अर्घ देवता भी है। परन्तु शिव का कश्मीरी धर्म के साथ सम्पृक्त होने के कारण ''नाग'' का अर्थ सांप ही लिया जाने लगा, क्योंकि यह शिव का कण्ठहार है। इस विषय पर विल्सन महोदय का विचार है-''मूल-रूप में कश्मीर का धर्म सर्व-पूजन रहा होगा, परन्तु यह हिन्दू-कर्मकाण्ड का एक अंश भी है, अत: नागों को कट्टर धर्मपन्थियों के विश्वासों में जगह मिल गई।''[40] इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि कश्मीर का धर्म कश्यप द्वारा प्रतिपादित नवीन विश्वासों और आदिवासियों में प्रचलित धार्मिक आस्थाओं का समन्वय था, इन आदिवासियों का अधिपति निकुम्भ था। यद्यपि अन्य देवताओं का भी आदर किया जाता था, परन्तु इन सब पर शिव और शक्ति की प्रमुखता थी। उस समय बौद्ध धर्म का उतना प्रभाव नहीं रहा होगा क्योंकि यह अभी-अभी यहां प्रवेश पा गया था। कुछ समय पश्चात् इस बौद्धमत ने निस्सन्देह दार्शनिक तर्क-वितर्क को बढ़ावा दिया और लगभग दो सौ वर्षों तक कश्मीर में इसी प्रभुता रही। कल्हण ने हमें इस बात का स्थान-स्थान पर प्रमाण दिया है कि बौद्ध धर्म, शैव धर्म तथा वैष्णव धर्म कश्मीर में सहअस्तित्व में अडिग आस्था रखते थे, जब कोई भी दान इत्यादि धार्मिक कामों के लिए दिया जाता था तो इसमें बौद्ध तथा अन्य धार्मिक विश्वासों के साथ एक-समान व्यवहार किया जाता था। यदि महाराजा किसी स्तूप अथवा विहार का निर्माण करवाता तो उसका मन्त्री या अन्य कोई इसी श्रद्धा से शिव और विष्णु मन्दिरों को भी बनवाता, धर्म के नाम पर किसी प्रकार की खटपट देखने में नहीं आती।[41] परन्तु इस सर्व धर्म के समभाव को नागार्जुन के यहां आने पर धक्का-सा लगा, वह यहां ''षड्र्हतवन'' (आधुनिक हार्वन) में निवास करता था और उसने बौद्ध धर्म के प्रचार में उग्रता लाई।[42] इससे एक अस्वस्थ प्रतिक्रिया हुई, यहां के कट्टरपंथी इस प्रचारकार्य से असन्तुष्ट हुए, तब उनके इन घावों पर महाराज कनिष्क (125-60 ईसा) ने बौद्ध धर्म को राजाश्रय देकर नमक छिड़का, और बौद्ध-धर्म-प्रचार में बहुत ही उत्साह प्रदर्शित किया। कल्हण इस घटना के सम्बन्ध

में यह बात लिपिबद्ध करता है-''नागार्जुन ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को शास्त्रार्थ में हराकर, पारस्परिक विश्वासों के इस शत्रु ने नीलमत में अंकित रीति-रिवाजों को वर्जित करवाया।''[43] यह कश्मीर के मूलभूत विश्वासों के साथ विद्रोह था, अत: मेधावी ब्राह्मण ने बौद्ध-विश्वासों के विकल्प के रूप इससे अधिक सर्वग्राही जीवन-दर्शन की स्थापना की, यहीं से सम्भवत: शैव-दर्शन का शुभारम्भ हुआ, जिसने आगे चलकर सारी घाटी को अपनी ऐन्द्रजालिक लपेट में ले लिया। इससे इस अनुमान की पुष्टि भी होती है कि बौद्ध धर्म के कश्मीर में लोप होने से पूर्व यहां पर विचारों का आदान-प्रदान अवश्य हुआ होगा। शैवमत के जागरूक आचार्यों ने कुछ ऐसे सिद्धान्तों का अपने में विलय किया जिन के बूते पर बौद्ध अपनी प्रमुखता प्रकट करते थे, तथा इन्हें यहां के मूल-विश्वासों के साथ समन्वित भी किया, इस तरह इन विद्वानों ने जनता की धार्मिक प्यास शान्त करने के लिए नवीन विचारों और प्राचीन विश्वासों का मधुर सम्मिश्रण किया। इस प्रकार बौद्धों की शिक्षा में जो आकर्षण था वह समाप्त हो गया। अब बौद्धमत के लिए यहां से बाहर जाने के बिना और कोई चारा न था। परन्तु यहां की विशेष संस्कृति के ये सतत् प्रहरी शैवाचार्य यहीं पर नहीं रुके, इन्होंने बौद्धिक प्रहारों के सबल माध्यम से बौद्धमत की एक विशिष्ट कमजोरी भगवान् के प्रति मौन को बहुत उछाला। कश्मीरी स्वभाव से धर्मभीरू है और उसकी नस-नस में भगवान् के प्रति अटूट श्रद्धा समोयी हुई है। इन शैवाचार्यों ने भगवान् को ''परमशिव'' या ''सदाशिव'' का नाम दिया। शैवों के प्रत्येक ग्रन्थ में इस परमशिव और पराशक्ति के अस्तित्व के सम्बन्ध में अकाट्य प्रमाण दिए गए हैं। इस प्रकार यह उक्ति ''यदि भगवान न होता, मानव ने अवश्य इसका आविष्कार किया होता'' कश्मीर में शतश: सार्थक हो गई, तत्पश्चात् कश्मीर में अद्वैतवेदान्त के प्रकाण्ड प्रचारक आदिशंकराचार्य के आगमन ने बौद्ध धर्म की रही-सही साख को मिट्टी में मिलाया।[44]

यद्यपि हमें ''शंकरदिग्विजय'' के अतिरिक्त आदिशंकराचार्य का यहां आने का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु वहां की जनश्रुति उनके यहां पदार्पण करने की सैंकड़ों वर्षों से पुष्टि करती आयी है। लोक-परम्परा का भी ऐतिहासिक साक्ष्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है, इसको यूं ही सस्ते में झुठलाया नहीं जा सकता। आन्तरिक साक्षी के आधार पर हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि शैव-दर्शन के ''प्रत्यभिज्ञा'' सिद्धान्त पर आदि

शंकराचार्य के मत की अमिट छाप परिलक्षित होती है, उनसे रचित ''दक्षिणमूर्तिस्तोत्र'' में जिस ''परमसत्ता'' का प्रतिपादन किया गया है और जिसे तान्त्रिक-दर्शन की संज्ञा भी दी गई है, ''प्रत्यभिज्ञादर्शन'' से अपूर्व साम्य दिखाई देता है, इतना ही नहीं, कुछ पारिभाषिक शब्दों को ज्यों का त्यों रखा गया है--

''ज्ञान क्रिये जगत्कल्पितौ दृश्यते चेतनाश्रये।''

(दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, सुरेश्वराचार्यकृत भाष्य (2), 13)

''यह जगत् ज्ञान और क्रिया से कल्पित है और इसमें चेतना का आश्रय भी दिखाई देता है।''

''ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतं जीवनं मतम्॥''

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, 1-39)

''ज्ञान और क्रिया प्राणियों का जीवन माना जाता है।''

''तस्मात् सत्ता स्फुरत् च सर्वत्रापयानुवर्तेत।''

(वहीं ऊपर)

''इसी कारण यह स्फुरित होने वाली सत्ता हर अवस्था में उल्टी दिशा में अनुवर्तन करती है। (देश काल से अतीत है।)''

''सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।''

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी।, 207

''वह स्फुरित होने वाली महासत्ता देशकाल से अछूती है।''

ऐसे उदाहरणों की दोनों ग्रन्थों में कोई कमी नहीं, उस समय के यातायात के साधनों को दृष्टि में लाते हुए यह कभी भी सम्भावनीय नहीं हो सकता कि उसके सिद्धान्त अथवा रचित ग्रन्थ यहां प्राप्य हो सकते थे. इसलिए यह अनुमान सुदृढ़ बन जाता है कि आदिशंकराचार्य की चरण-धूलि से कश्मीर-मण्डल अवश्य पवित्र हुआ होगा, उनसे प्रतिपादित ''अद्वैत'' की अनुगूंज हमें शैवों के ''अभेद'' में मिलती है, पुनः उनसे रचित ''सौन्दर्य लहरी'' पर कश्मीरी शैव-सिद्धान्तों तथा तन्त्रों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई

देता है, इतना ही नहीं इनकी संख्या का भी इस ''लहरी'' में अनुमोदन किया गया है-

''चतु: षष्टया तन्त्रै: सकलमभिसंधाय भुवनम्।''[45]

''(हे देवि) आपने ही चौसठ तन्त्रों से इस जगत को बनाकर.....''

अत: यह तथ्य भी सिद्ध हो जाता है कि आदिशंकराचार्य तथा कश्मीरी शैवाचार्यों ने एक दूसरे को अवश्य प्रभावित किया, इस क्षेत्र में एकांगी व्यापार चल नहीं सकता। इसी परिवेश में यहां बौद्धमत के लुप्त हो जाने के बाद शैवधर्म ने इस खाली स्थान को पूरा किया और इसे आदिशंकराचार्य का आर्शीवाद भी प्राप्त था।

शैव-दर्शन के समस्त वाङ्मय को ''त्रिक्'' नाम भी दिया गया है। ''त्रिक्'' शब्द की व्युत्पत्ति तथा इसका प्रयोग सम्भवत: त्रिसैद्धान्तिक दृष्टिकोण के कारण किया गया है जिसका दिग्दर्शन इस शैव-शास्त्र में कराया गया है। ये शिव, शक्ति तथा अणु, अथवा पति, पाश और पशु, नर, शक्ति, और शिव, पर, अपरा, परापर, या भेद, अभेद और भेदाभेद है, ''अथवा इसका यह नामकरण उन तीन आगमों के आधार पर किया गया हो, जो सिद्ध नामक तथा मालिनी है।''[46] यह सम्पूर्ण साहित्य तीन कोटियों में बांटा जा सकता है- (१) आगम शास्त्र (२) स्पंद शास्त्र (३) प्रत्यभिज्ञा शास्त्र

''आगमों से अभिप्राय वे श्रुति-ग्रन्थ हैं जो पारम्परिक क्रम में आज तक चलते आए हैं।''[47] इन में ज्ञान और क्रिया की प्रधानता दिखाई गई है, जिस माध्यम द्वारा शिव और साधक (प्रमाता) एकाकार हो सकते हैं। इस शाखा की सबसे महत्वपूर्ण रचना ''शिवसूत्र'' माने जाते हैं। इनके लेखक स्वयं भगवान् शंकर माने जाते हैं जो बाद में आचार्य वसुगुप्त ने श्रुति-रूप में प्राप्त किये।[48] कल्हण के कथनानुसार वसुगुप्त के शिष्य भट्ट कल्लट् महाराज अवन्तिवर्मन के शासनकाल में जीवित थे। यह सतय (855-883 ई० सन्) है।[49] अत: यह अनुमान करने में कोई आपत्ति न होगी कि आचार्य वसुगुप्त इससे पूर्व कम से कम तीस वर्ष रहा होगा, अर्थात् 825 ई० सन् में। इन सूत्रों को प्रकाश में लाने का प्रयोजन यह था कि उस समय जो द्वैतदर्शन का जो प्रचार हो रहा था, उसे लगाम दी जाये, क्षेमराज ने ''शिवसूत्र विमर्शिनी'' में इस बात को यूं खोल कर रखा है--

''द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसंप्रदायो मा विच्छेदि इत्याशयत:।''

''इस आशय से कि जनता में द्वैत के प्रचार से रहस्य संप्रदाय (शैवमत) की परम्परा कट न जाये'' ...., आगम-शास्त्र ने शुद्ध रूप में अद्वैत-जिसे वे अभेद कहते है- की भरसक व्याख्या की।

स्पन्द-शास्त्र वास्तव में शैवमत की शिवसूत्रों की अपेक्षा अधिक विस्तार से समीक्षा करते हैं। इस शाखा की मुख्य पुस्तक ''स्पन्द-सूत्र'' है जिनकी वृत्ति कल्लट ने लिखी है। इसके अतिरिक्त रामकण्ठ और उत्पलवैष्णव (प्रत्यभिज्ञा वाले नहीं) ने भी इन पर अपनी कलम आजमाई है। क्षेमराज भी इन सूत्रों का एक व्याख्याता है। क्षेमराज वसुगुप्त को इन सूत्रों का भी रचयिता मानता है, परन्तु उत्पल-वैष्णव इसे ''संग्रहग्रन्थकृत्'' मानता है, और किसी अन्य स्थल पर वह इन्हें भट्ट-कल्लट् की कृति समझता है,[50] चूंकि ''शिवसूत्रों'' और ''स्पन्द-सूत्रों का विषय एक समान है, अत: रचयिता का एक ही होना अधिक सम्भव जान पड़ता है, और वह वसुगुप्त ही हो सकता है।

इस दर्शन की तीसरी और बहुत ही महत्त्पूर्ण शाखा ''प्रत्यभिज्ञा'' है। आचार्य सोमानन्द इस शाखा के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं।[51] और उसे ''तर्कस्य कर्ता'' कहा गया है[52], आचार्य सोमानन्द ने ही वास्तव में शैव-दर्शन में तर्क-वितर्क का श्रीगणेश किया। सोमानन्द ने इस शाखा की प्रथम पुस्तक ''शिवदृष्टि'' का प्रणयन किया था, परन्तु यह पुस्तक अब केवल चार अहि्नकाओं में से (अध्यायों) एक ही प्राप्य है। अभिनवगुप्त अपनी ''परात्रिंशिका'' में हमें इस पुस्तक की सात अहि्नकाओं की सूचना देता है। सम्भवत: यही कारण है कि उसके विख्यात भाष्यकार उत्पलदेव ने चौथी अहि्नका के 74 वें श्लोक तक ही अपनी वृत्ति सीमित रखी है। बाद में तीन अहि्नकायें मिल गई और इन्हे मूल के साथ जोड़ा गया, परन्तु प्रतीत होता है क यह सोमानन्द कृत वृत्ति का एक अंश है और मूल की तीन अहि्नकायें नहीं। सोमानन्द की शिक्षा का सार यह है--

''शिवोदाता शिवोभोक्ता शिव: सर्वमिदं जगत् ।''

उत्पलदेव ने इस ''शिवदृष्टि'' पर एक सारगर्भित वृत्ति लिखी। यह आचार्य सोमानन्द का शिष्य था, और कई कहते हैं कि यह इनका पुत्र था।[53]

इसी विद्वान् ने प्रथमत: शैवशास्त्र में ''प्रत्यभिज्ञा'' का निरूपण किया और अपने ग्रन्थ का नाम ''ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका'' रखा उत्पलदेव ने अपनी ओर से इसमें ''स्वातन्त्र्य शक्ति'' की वृद्धि की, इन्हीं कारणों से उत्पलाचार्य को गुरु सोमानन्द के समान ही बहुत पूजनीय माना गया है--

''श्री सोमानन्द विज्ञान प्रतिबिम्बकम्''।

(ई० प्रत्यज्ञिविमर्शिनी-2 भूमिका।)

शायद उत्पलदेव की बहुविज्ञता से आकृष्ट होकर ही अभिनवगुप्त ने ''ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा'' पर दो वृत्तियां लिखीं, एक संक्षिप्त (लघ्वी) और दूसरी विस्तार-सहित (बृहती)।

शैव-दर्शन में गुरु-परम्परा इस प्रकार दिखाई गई है--

''श्रीकंठम् वसुमंतम् सोमानंदम् तथोत्पलाचार्यम्।''

लक्ष्मणमभिनवगुप्तं वन्दे श्री क्षेमराजं च॥''

''मैं शिव, वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पलाचार्य, लक्ष्मणगुप्त, अभिनवगुप्त तथा क्षेमराज की वन्दना करता हूं।''

इस श्लोक से शिक्षक तथा शिक्षार्थी की ध्वनि भी निकलती है। वसुगुप्त ने शिव से , सोमानन्द ने वसुगुप्त से, सोमानन्द से उत्पलाचार्य ने, लक्ष्मणगुप्त से अभिनवगुप्त ने और अभिनवगुप्त से क्षेमराज ने दीक्षा ली। इस तरह हम यह नि:संकोच कह सकते हैं, कि शैव-शास्त्र का आदि प्रणेता स्वयं शिव है, जिसने वसुगुप्त और सोमानन्द को इस दिशा में दीक्षित किया, उत्पल, लक्ष्मण, अभिनव तथा क्षेमराज केवल व्याख्याता है। और इन वृत्तिकारों में अभिनवगुप्त का नाम स्पष्ट कारणों से सर्वोपरि है।

अभिनवगुप्त का एक विदग्ध शैवाचार्य के रूप में उल्लेख करने से पहले यही संगत जान पड़ता है कि हम शैवदर्शन की मोटी-मोटी बातों का वर्णन करके इन के ही प्रकाश में अभिनवगुप्त का स्थान एक शैवाचार्य के रूप में निश्चित करें, और इसके साथ ही यह भी देखें कि इस शैव-व्याख्याता ने इस दर्शन के मूल सिद्धान्तों को किस प्रकार प्रस्तुत किया है और इन पर अपने व्यक्तित्व और पाडित्य की अमिट छाप अंकित की है।

''शैव शासन'' अथवा ''शैवदर्शन'' इस अनुमान पर आधारित है कि हर एक पदार्थ-जड़ या जीव का मौलिक और आन्तरिक आधार आत्मा है, और यही सत्य है, यथार्थ और अनश्वर । यही आत्मा परमेश्वर-प्राप्ति का सबल माध्यम है, और इसी द्वारा ''चैतन्यआत्मा''[54] की अनुभूति सम्भव है। यह परमेश्वर समय, स्थान और आकार की सीमाओं से ऊपर है, अत: सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक है। स्थान तथा आकार की ससीमताओं से ऊपर है, अत: सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक है। इसका दोहरा दायित्व है। एक विश्वमय और दूसरा विश्वोतीर्ण उसकी सर्वव्यापकता का नाम ''शक्ति'' दिया गया है। इस परमेश्वर से नि:सृत होकर यह इससे पृथक नहीं कही जा सकती, इसे केवल इसका एक रूप माना जायेगा। यद्यपि ये शक्तियां असंख्य[55] हैं, परन्तु इनमें पांच मुख्य है : चित्तशक्ति, आनन्द-शक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति । इन्हीं के समवाय द्वारा परमेश्वर व्यक्त होता रहता है, और इस अवस्था को उदय, उन्मेष या सृष्टि कहते हैं।[56]

यद्यपि यह परमेश्वर विश्वरूप है, परन्तु विश्व की सृष्टि करना इसके लिए अपेक्षित बन जाता है। अत: विश्व इन तत्त्वों से निर्मित होता है- शिवतत्त्व, शक्तितत्त्व, सदाख्या तत्व, ऐश्वर्य तत्त्व और अन्तिम सद्विद्या तत्त्व[57]। जब आत्मा और आत्म-चैतन्य के बीच माया पदार्थों की यथार्थता को ढक देती है, तो साधक को सांसारिक ससीमताओं के ऊपर उठना है, ये ससीमतायें हैं- काल, नियति, राग, विद्या और कला।[58] ऐसा कोई साधक जो माया से आवृत्त हो और जो ऊपर दी गई सांसारिक ससीमताओं-काल इत्यादि से संपृक्त हो, उसे ''पुरुष'' का नाम दिया गया है। इसी के साथ ''प्रकृति'' का भी जन्म होता है। यह ''पुरुष'' की वह गुप्त शक्ति है जो इसे क्रिया अथवा प्रतिक्रिया की प्रेरणा देती है।[59] ''पुरुष'' को माया के इस उन्माद से जागने के लिए, ''प्रकृति'' का संयोग पाकर बुद्धि, अहंकार तथा मन के वास्तविक स्वरूप की पहचान करनी है, जो इसे मानसिक मंथन से सुलभ होगा।[60] इस प्रकार ''पुरुष'' माया को तिरस्कृत करके ''चित्तस्वरूप'' की उपाधि पाकर शास्त्रवी अथवा परमेश्वर्य अवस्था प्राप्त करता है, आत्मस्वातन्त्र्य पाकर परमानन्द का साक्षात्कार करता है।[61]

अभिनवगुप्त ने शैव-शास्त्र से सम्बंद्ध अनेकों ग्रन्थों की रचना की है। डा० पाण्डे ने इनकी इकतालीस रचनायें गिनाई हैं,[62] परन्तु प्रधानत: इनके

निम्नलिखित ग्रन्थ बहुत प्रख्यात है---(1) परात्रिंशिका विवरण (2) प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (लाघ्वी) (3) प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (बृहत्ती) (4) तंत्रसम् (5) तंत्रालोक (6) परमार्थसार (7) गीतार्थ संग्रह

''परात्रिंशिका'' उसकी सर्वप्रथम रचना प्रतीत होती है। वास्तव में यह आगम शाखा के अन्तर्गत ''रूद्रयामलतन्त्र'' का अन्तिम भाग है, जिस पर अभिनवगुप्त ने ''विवरण'' नाम वाली टीका लिखी है। त्रिंशिका (तीस) शब्द का प्रयोग भ्रामक है, क्योंकि इसमें तीस से अधिक श्लोक संगृहीत है। परवर्ती टीकाकारों ने इस शीर्षक के औचित्य पर बहुत कुछ लिखा है, परन्तु अभिनवगुप्त इस शीर्षक को इस प्रकार संगत ठहराता है--

''त्रिंशका इति तिसृणां शक्तीनां इच्छा ज्ञानक्रियाणामिशिका ईश्वरी।''[63]

''त्रिंशिका'' नाम इसलिए दिया गया है कि यह तीन शक्तियां-इच्छा, ज्ञान और क्रिया भी स्वामिनी है।

शैवदर्शन में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दों में ''परा'' का अर्थ ''परा संविद्'' के रूप में प्रयुक्त होता रहा है, यह विश्वोतीर्ण का भी समानार्थक माना जाता है।

जब कि ''अपरा'' का अर्थ ''विश्वमय'' होगा। अतः इस ग्रंथ में तीन शक्तियों-इच्छा, ज्ञान और क्रिया का विवेचन देकर परासंविद् से साक्षात्कार करने की विधि का निरूपण किया गया है।

प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी लघ्वी तथा वृहती शैवशास्त्र की प्रत्यभिज्ञा शाखा से सम्बद्ध है, इस शाखा के आदिप्रवर्तक सोमानन्द और व्याख्याता उत्पलाचार्य हैं।[64] तन्त्रसार और तन्त्रालोक का विषय समान है, परन्तु प्रथम ग्रंथ दूसरे का बहुत ही संक्षिप्त संस्करण है, ''सार'' शब्द का प्रयोग यहां सार्थक रूप में हुआ है। तन्त्रालोक एक बृहत् ग्रन्थ है। इसके बारह अंक हैं, और पद्यमय हैं। तन्त्रसार में गद्य का आश्रय लिया गया है। इनका आधार ''मालिनीविजयतन्त्र'' है। परमार्थसार में 105 श्लोक अंकित हैं और ये (शेष कारिकाओं) पर आधारित हैं।[65] गीतार्थसंग्रह शैव-दृष्टिकोण में भगवद्गीता की टीका है इसमें कौरवों और पाण्डवों को अविद्या और विद्या के प्रतीक माना गया है।[66] इस तरह हम देखते हैं कि अभिनवगुप्त को शैव शासन की प्रत्येक शाखा पर यथासमान अधिकार प्राप्त था, आगम, स्पन्द तथा प्रत्यभिज्ञा पर इनका अध्ययन

गम्भीर था, तथापि स्पन्द की अपेक्षा इन्होंने प्रत्यभिज्ञा और आगम को प्रधानता दी है। शैवशास्त्र का केवल यह ही एक अकेला व्याख्याता है जिसने इन तीनों शाखाओं का सुखद समन्वय किया, अन्य व्याख्याता अपनी संकुचित परिधि से बाहर न निकल सके। अभिनवगुप्त का मूलमन्त्र समन्वय है, यही प्रबल कारण है कि उसके ग्रन्थ अधिक स्थायी तथा लोकप्रिय सिद्ध हुए।

दर्शन वास्तव में तत्त्वविद्या है, जीवात्मा अथवा भौतिकता के साथ परब्रह्म का सम्बन्ध स्थापित करना है, लोक और परलोक की दूरियों को पाटने का एक अमोघ साधन है। ज्ञान का आदिस्रोत स्वयं परमेश्वर हैं, अतः उस परतत्त्व की व्याख्या करने के लिए इससे अधिक सजीव वाहन क्या हो सकता है। इस दिशा में मौलिकता कभी नहीं हो सकती क्योंकि ज्ञान मूलतः पीढ़ियों से पुंजीभूत बना मस्तिष्क का स्वस्थ व्यायाम है। किसी भी शैवाचार्य ने अपनी मौलिकता का कहीं भी ढिंढोरा नहीं पीटा है, क्योंकि शिवसूत्र परमेश्वर में प्रदत्त वाक्-भण्डार है। यदि मौलिकता का यथोचित स्थान कहीं बनता है तो वह इनकी व्याख्या में है, इस क्षेत्र में भी अभिनवगुप्त अप्रीतम है। शैवदर्शन में प्रत्यभिज्ञा को लोकप्रिय बनाने में अभिनवगुप्त का बहुत हाथ रहा है। उसने न केवल इस दर्शन का अनुवाद लोकभाषा और लोक मुहावरों ही में किया, अपितु इसे एक स्वाभाविक दिशा भी दी, फिर भी वह इस प्रकार की व्याख्या करके अपने लिए मौलिकता का श्रेय नहीं लेता। वह बहुत ही विनम्रता से लिखता है-

श्री सोमानन्दमतं विमृश्य मया निबद्धमिदम्।[67]

"श्री सोमानन्द के मत का विमर्श करके मैंने इस क्रमिक रूप दिया है।"

यहां पर इस बात को भी स्पष्ट करना समीचीन बनता है कि अभिनवगुप्त ने किसी भी स्वतन्त्र रचना की सृष्टि नहीं की, वह केवल एक व्याख्याता है, एक मौलिक चिन्तक नहीं। अभिनवगुप्त का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में यह है कि "वृत्ति" अथवा व्याख्या केवल शब्दों का इन्द्रजाल नहीं, यह तो आध्यात्मिक अनुभवों से अर्जित अनुभूति है, अतः इसमें व्याख्याता की यह अनुभूति मूल-ग्रन्थ में से नये-नये अर्थ निकालने में बहुत सहायक बनती है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने व्याख्या करने से पूर्व अपने लिए तीन मानदंड स्थापित किये, प्रथम स्वात्मानुभूति, द्वितीय तर्क तथा तृतीय प्राचीन

शास्त्रों का समर्थन। इससे पूर्व प्रणीत ''वृत्तियों'' में केवल शब्दानुवाद था, भावों का स्पष्टीकरण न होने के बराबर था। ऐसे वृत्तिकारों में मूलभावों के साथ छेड़ने का नैतिक साहस बिल्कुल न था। वे इनमें न कुछ बढ़ा सके और न घटा सके। यद्यपि उत्पलाचार्य ने इनमें तर्क का थोड़ा-बहुत अंश प्रविष्ट किया, परन्तु यह एकांगी होकर केवल प्रत्यभिज्ञा दर्शन से सम्बद्ध था। अभिनवगुप्त उत्पलाचार्य का शिष्य होकर भी उसके सिद्धान्तों में शास्त्रसम्मत परिवर्तन करने से नहीं हिचकिचाया। इस तरह इस सचेत व्याख्याता ने शैव-दर्शन के लिए एक विचारवान भावभूमि संजोयी। इस प्रकार उसके दक्ष हाथों से नया जीवन पाकर यह शास्त्र क्लिष्ट तथा निरर्थक माथापच्ची से बचकर जनजीवन की धड़कनों में समस्वर होने लगा। इसके साथ ही अभिनवगुप्त ने इसको अधिक ग्राह्य बनाने के लिए लोकाचार तथा कर्मकाण्ड को इसके साथ जोड़ दिया। लोक-विश्वासों के साथ लोक-मनोविज्ञान की इस मीठी पैबन्द से शैवदर्शन केवल ग्रन्थों तक ही सीमित न रहकर लोक-जीवन के हर एक पक्ष को अनुप्राणित करने लगा। इसलिए उसकी यह उक्ति बहुत ही सार्थक प्रतीत होती है--

''अद्रष्टं प्रकटीर्कुण: गुरूनाथाज्ञया वयम्।''[68]

''हम (अब) सर्वशक्तिमान गुरु (शिव) की आज्ञा से ''अदृष्ट' को ''दृष्ट'' बनाते हैं।''

बौद्धों और अन्य दर्शनों की जो तीव्र और विश्वासयुक्त आलोचना अभिनवगुप्त ने की है, वही सम्भवत: उसका मौलिक दृष्टिकोण समझा जायेगा। ''त्रिक्'' का ऐसा संक्षिप्त और सारगर्भित लक्षण केवल उसकी लेखनी का ही चमत्कार हो सकता है--

''शिवशक्तिसंघट्टात्मकं परत्रिक् शब्द वाच्यम्।''[69]

''जीवात्मा, शिव और शक्ति का सम्मिलन ही परत्रिक् शब्द का बोधक है।''

शैवशास्त्र का उद्देश्य उसके मतानुसार अज्ञान के आवरण को हटाना है। गुरु सोमानन्द ने ''प्रत्यभिज्ञा'' का निरूपण करते हुए इसे ज्ञात और स्मृति की सामूहिक क्रिया अथवा प्रक्रिया समझा है, उत्पलाचार्य ने इसे स्वात्म-शक्ति, देखने की शक्ति और क्रिया-शक्ति का संघटन माना है--

"द्रक्क्रियात्मिकाशक्ति।"[70]

परन्तु अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या करते समय इन दोनों आचार्यों से बाजी ले ली है। इसको मानव-बुद्धि के बहुत समीप लाया है।

"तस्य महेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञा प्रतीपं आत्माभिमुखेन ज्ञानं प्रकाश: प्रत्यभिज्ञा।"

"उस परमेश्वर की पहचान (वह दशा है) जब उस ज्ञान के प्रकाश के सम्मुख होकर उसे न भूलें जो पहले आत्मचैतन्य की प्रगल्भ ज्योति से चुंधिया गया था।"[71] "प्रतीप" शब्द की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहता है कि यह विस्मृति अथवा आच्छादन है, परन्तु ज्ञान के प्रकाश से ये दोनों तत्त्व विलीन होते हैं और परमेश्वर का साक्षात्कार स्पष्ट प्रत्यभिज्ञा द्वारा सम्पन्न होता है। आगे इस सिद्धान्त को अधिक साफ तौर पर समझाते हुए अभिनवगुप्त लिखता है--

"भातभासमानरूपानुसंधानत्मिका।"[72]

(प्रत्यभिज्ञा) पूर्व तथा वर्तमान ज्ञान को जगाती है। जब पदार्थ प्रत्यक्षत: दृष्टिपथ में हो।

पूर्व तथा वर्तमान ज्ञान और इनके जीवित हो उठने के सम्बन्ध में यह शैवाचार्य इस उदाहरण से काम लेता है--

"स रावार्य चैत्र इति।"[73]
"यह वही चैत्र तो है।"

यह उस व्यक्ति का नाम है जो पहले देखा गया हो, और यह वस्तुत: वही है पूर्व ज्ञान द्वारा सम्पन्न होगी, इन दो के बीच संस्कारजनित स्मृति एक सेतु का काम करती है, इस तरह अभिनवगुप्त प्रत्यभिज्ञा का ऐसा लक्षण प्रस्तुत करता है। जो अधिक सरल और ग्राह्य है, विश्वासयोग्य है, अत: मौलिक भी है। इस दिशा में वह बहुत ही तर्क संगत युक्ति से हमारी आस्था खरीद लेता है। वह कहता है कि परमेश्वर पूर्णशक्ति स्वभाव है, उसकी यह अपूर्व विशेषता पुराणों, सिद्धान्तों तथा आगमों में की गई है, अनुमान और तर्क भी इस तथ्य की पुष्टि करता है, और जब हम प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा उसके इस स्वभाव की विद्यमानता अपने में अनुभव करेंगे, तो यही प्रत्यभिज्ञा कहलायेगी। दूसरे शब्दों में हम कहेंगे कि उसकी पहचान हो पाई

है। इस तरह यह समीक्षक सोमानन्द तथा उत्पल द्वारा प्रस्तुत रूप-रेखाओं में नये रंग भर देता है, और इसे एक प्राणवान स्पन्दन प्रदान करता है। अभिनवगुप्त और भी कई सन्दर्भों में इन दो आचार्यों से भिन्न विचार रखता है, स्वतन्त्र चिन्तन का प्रमाण देता है। सोमानन्द ने स्मृति को ही पूर्व और वर्तमान ज्ञान की कड़ी माना है, परन्तु अभिनवगुप्त इससे सहमत नहीं, वह कहता है कि यह स्मरण तब ही उजागर होगा जब पदार्थ सामने हो, अन्यथा नहीं।

"पुनः अभिमुख्येन, न तु स्मर्यमानतया अपितु स्फुटत्वेन ज्ञानं प्रत्यभिताम्।"[74]

"अभिमुख होने से, न कि स्मरण मात्र से ही ज्ञान की पहचान होती है, क्योंकि यह सामने होकर साफ तौर से (नजर आता) है।"

उसका तर्क है कि स्मरण का सम्बन्ध दृष्टि से है, पहले किसी को देखकर हम फिर से उसको जानने लगते हैं जब वह आंखों के सामने पुनः आया हो। परन्तु कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जहां बिन देखे प्रेम हो जाता है, एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित होता है, जैसे नल और दमयन्ती में। यह प्रेम सम्बन्ध तीन अवस्थाओं में सम्भवनीय है, किसी वाहन की चुट-पुटी बातों से, जैसे नल और दमयन्ती के बीच प्रेम की आग हंस ने जगाई, अथवा किसी प्रसिद्ध वीर के पराक्रम से आकृष्ट होकर अदृश्य में ही कोई स्त्री उससे प्रेम करने बैठती है, या किसी और काम से जो अप्रतिम होकर उसकी ख्याति का कारण बन गया हो। इन तीनों अवस्थाओं में प्रत्यक्ष-दर्शन का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः पूर्वापर-दृष्टि यहां निरर्थक बन जाती है, इसीलिए यहां स्मरण अप्रासंगिक है, अनुपस्थित है। आगे चलकर यह शैवाचार्य लिखता है कि ऐसी प्रेम करने वाली स्त्री इन तीन अवस्थाओं के आधार पर ही अपने प्रेम के चित्र मानसिक रूप में बुनती रहेगी, और यह भी सम्भव है कि वह प्रेमी यदि उसे अज्ञात रूप में मिल भी जायें, वह उसके स्वप्नों के अनुरूप न हो। यहां पर पहले दिया गया "चैत्र का उदाहरण ठीक नहीं बैठता, अतः प्रत्यभिज्ञा का सफलभूत होना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। ऐसे धर्म संकट में वह स्त्री क्या करेंगी ? इस समस्या का समीचीन उत्तर अभिनवगुप्त इस तरह देता है, जब इन प्रेमियों का प्रत्यक्ष मिलन होगा, तो सर्व-प्रथम स्त्री के सपनों के अनुरूप न होने के कारण उसके मन को धक्का लगेगा, खुशी कभी न होगी।

जब तक वह उस प्रेमी के गुणों की स्वयं परख करके पूरी तरह जान नहीं लेती और उनका आदर करने नहीं लगती, उसके प्रेम को तब तक बराबर ठेस लगती रहेगी। इन गुणों का अनुमोदन दूसरों द्वारा भी होना चाहिए ताकि उसके अनुभव को यथेष्ट बल मिल सके और वह समझ पायें कि ''यह तो वही है।'' परन्तु यह ज्ञान होना उतना सहज और सरल नहीं, अत: इस अवस्था में ''जो सुना था'' और ''जो देखा'' के बीच का व्यवधान हटना बहुत ही आवश्यक है, ताकि स्वप्न और यथार्थ में मनग्राहक सन्धि सम्भव हो यहां पर वे मानसिक बिम्ब, अदृष्ट के रूप में स्वप्निल, दृष्ट के रूप में यथार्थ, इन दोनों का एक होना भी अनिवार्य समझता है, यही अनुभव पदार्थ के अभिमुख होने पर हर एक विरोध को शान्त करता है।[75] और इसी से प्रत्यभिज्ञा का सम्पन्न होना सम्भव है। इस तरह अभिनवगुप्त दर्शन को मनोविज्ञानिक नींव प्रदान करके इसे सर्वांगकीरता का अधिक सफल संबल प्रस्तुत करता है, और क्लिष्टता अब सरलता में बदल जाती है, मन, बुद्धि और अहम् इस चमत्कार से अभिभूत होकर एक साथ बनने लगते हैं।

अभिनवगुप्त जैसा जागरुक समीक्षक इस दर्शन को ईश्वरप्रदत्त कहने से ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह इसकी उपादेयता का वर्णन बहुत ही विद्वत्पूर्ण ढंग से करता है और आग्रह करता है कि वही दर्शन लोकप्रिय हो सकेगा जो स्वसंवित् तर्क और पतिशास्त्र की तीन कसौटियों पर खरा उतरे, केवल कहने मात्र से ही किसी दर्शन की महत्ता समझी नहीं जा सकती, इसका समर्थन बुद्धि से होना चाहिए, ताकि यह गले से नीचे उतर सके, इसमें ही अटक न जाए। उसका मत है कि यह अनुभव-जन्य संसार माया-मात्र नहीं, इसकी रचना परमशिव अथवा विश्व चैतन्य द्वारा हुई है, चूंकि वह स्वयं सत् है, इसलिए उसकी सृष्टि असत् कैसे हो सकती है, जलता दीपक ही दूसरे दीपक को ज्योति दे सकता है। इसके प्रणाम में वह आभासवाद का उल्लेख करता है।[76]

उसके ही शब्दों में आभासवाद का लक्षण यह है-

''जो कुछ भी सत् है, अथवा जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह सत् है, विद्यमान है, और जिसका वर्णन किसी न किसी रूप में किसी भी भाषा में सम्भव है, यह कर्त्ता हो या कर्म, ज्ञान का वाहन हो अथवा स्वयं ज्ञान हो।''[77] आगे चलकर वह इस प्रकार का तर्क करता है, कर्त्ता और कर्म एक-दूसरे से पृथक नहीं समझे जा सकते, इसी तरह आत्मा और अनात्मा भी

नहीं, अपना आप और पराया भी नहीं। पदार्थों का ज्ञान इन दोनों मानसिक परिस्थितियों के सम्मिश्रण द्वारा होता है, यदि इनको एक-दूसरे से अलग अथवा एक-दूसरे का विरोधी मान लिया जाए तो इन दो में अविप्रतिपत्ति नहीं हो सकती, जैसे प्रकाश और अंधेरे में, इसलिए उसका कथन है-डेरा

''सर्वाकृति: विश्वमय: निराकृति: विश्वोतीर्ण:।''[78]

''वह परम्शिव ही आकारसहित विश्वमय कहलायेगा, और निराकार रूप में विश्वोतीर्ण।''

इन दो रूपों में विवेक से अन्तर दिखाने का दायित्व ''विमर्श'' पर है, हम इस विमर्श को बिम्बग्राही दर्पण की संज्ञा दे सकते थे, परन्तु अंधेरे में इस दर्पण द्वारा बिम्बों का आदान-प्रदान सम्भव नहीं, बाह्य उपकरणों की अपेक्षा इसीलिए इस संदर्भ में अनिवार्य बन जाती है। शीशे में से बिम्ब तभी निकलेंगे जब कोई अन्य उपादान रात के अंधेरे में इसे प्रकाशित करे, अत: आभास का विश्वमय रूप ''प्रकाश'' और ''विमर्श'' पर आधारित है।[79]

''प्रकाश'' वह हेतु है जिससे प्रकाश और इसके बिम्ब का आपस में सम्बन्ध बन जाता है, आत्मा और परमात्मा का एक-दूसरे का साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव संपादित होता है। ''विमर्श'' वह शुद्ध विवेक है जिसके द्वारा आत्मा अपने आप की पहचान करती है, और जो किसी प्रकार के राग अथवा आसक्ति से दूषित न हो। इन्हीं दो के सामूहिक प्रभाव से स्वातन्त्र्य शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। अभिनवगुप्त के शब्दों में इसका विवेचन इस प्रकार किया गया है-

''सर्वा: शक्ति: कर्तृत्वशक्तिऐश्वर्यात्मा समाक्षिपति सा च विमर्शरूपा इति युक्तम्।''[80]

''यह स्वातन्त्र्य शक्ति वास्तव में क्रिया-शक्ति है, जो चैतन्य के आनन्द का प्रेरक बनती है, और इसमें ''विमर्श'' की बहुलता स्पष्टत: उचित है।'' शैव शास्त्र का परम उद्देश्य इसी स्वातन्त्र्य शक्ति का उपार्जन करना है। वसुगुप्त इसे चैतन्य का नाम देता है, जिससे इसका सम्बन्ध चित से स्पष्ट है। स्पन्दशाखा के आचार्य इसे ''स्फुरता'' या ''स्पन्द'' की ही संज्ञा देते हैं,[81] इसे परम सत्ता[82] या परावक्[83] भी कहा गया है।

अब हम देखेंगे कि अभिनवगुप्त ''माया'' का विवेचन किस प्रकार करता है, यह ''माया'' शब्द वेदान्त में बहुव्यवहृत है, और इसमें नकारात्मक दृष्टिकोण निहित है, यहां पर जीवात्मा और ब्रह्मा का एकीकरण तब ही सम्भव है जब मानव-अनुभवों और अनुभूतियों को यथार्थ माना जायें, असत् रूप में लिया जायें, परन्तु शैवशास्त्र का दृष्टिकोण इससे विपरीत सकारात्मक है। संसार का यथार्थता के प्रति आग्रह है, अत: यहां पर ''माया'' केवल एक क्षणिक बाधा है जो स्वातन्त्र्य अर्जित करने में रुकावट बनती है, यह अभेद के स्थान पर भेद का अनुभव कराती है। ''माया'' का लक्षण इस दर्शन में इस प्रकार दिया गयां है-

''तिरोधानंकरी मायाभिधा पुन:।''[84]

''माया विमोहिनी शक्ति है।''

इस तरह अभिनवगुप्त ने माया और मोह को समानार्थक समझा है। सम्भवत: वह इस दुरूह पारिभाषिक शब्द को अधिक सरल बनाने के कारण ही मोह शब्द का प्रयोग करता है, मोह की अवस्था से तब परिचित हैं। क्योंकि अर्जुन का मोह सब जानते हैं और समझते हैं।[85] इसके साथ ही हम उस उपदेश से भी अवगत है जो श्रीकृष्ण ने इस मोह के निराकरण के लिए अर्जुन को दिया था। पदार्थों का वास्तविक स्वभाव माया छिपाती है, आत्मा के असली रूप को यह माया ढक लेती है, जिस कारण परमशिव के साथ एकाकारता की अनुभूति धूमिल बन जाती है, इस अज्ञान के तिमिर को ज्ञान द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है।

ज्ञान के दो रूप माने गये हैं- बुद्धिजन्य या बौद्ध, और अध्यात्म संबंधी या पौरुष। इसी पौरुष-ज्ञान से माया का हनन सम्भव है। इस अवस्था में साधक परम सात्विक प्राप्त करता है, उसकी पाशविक वृत्तियां लुप्त हुई होती हैं, और परमानन्द का आस्वादन करके वह यथार्थ और अयथार्थ में भेद कर सकता है।[86], ''मायाध्वन्'' ''शुद्धाध्वन्'' में बदल जाती है।[87]

अब हम शैवदर्शन के अनुसार मोक्ष का निरूपण करेंगे, अभिनवगुप्त ने इस का लक्षण इस प्रकार दिया है--

''स्वतन्त्रात्मातिरस्तु तुच्छोऽतुच्छोपि कश्चन।[88]

न मोक्षो नाम तन्नास्य पृथंनामयित गृहयते।''

"तुच्छ अथवा अतुच्छ कोई भी पदार्थ जब तक अपने में आत्मा का स्वातन्त्र्य अर्जित नहीं करता, तब तक इसका मोक्ष नाममात्र को भी नहीं हो सकता, और यह अपनी वास्तविक अवस्था से कोई अन्य अलग नाम धारण करता है।"

"स्वरूप चात्मन: संवित् नान्यत्।"[89]

इस तरह मोक्ष आत्मा का स्वसंवित् है और कुछ नहीं से अपने आपको पहचानना है, वह किसी बाह्य उपकरण से अप्रकाश्य है, और सीमित ज्ञान के किसी भी साधन से अज्ञेय है। संक्षेप में यह केवल स्वात्मानुभव से प्राप्य है। माया के तीन मल माने गये हैं, ये हैं कर्म सम्बन्धी--कर्ममला:, ज्ञान सम्बन्धी--ज्ञानमला: तथा अणु सम्बन्धी-- आणवमला:[90]। इन सबसे ऊपर चढ़ने को मोक्ष कहा जायेगा। यद्यपि बौद्ध तथा सांख्य दर्शन ज्ञान की बहुलता को मोक्ष का उपाय समझते हैं, परन्तु शैवदर्शन का मत इससे भिन्न है। शैवाचार्य कहते हैं कि यदि ज्ञानमल दूर हुआ हो, फिर भी अन्य दो मल शेष बचते हैं। इस तरह साधक की यह अवस्था मुक्तावस्था किसी भी अर्थ में नहीं कहीं जा सकेगी। अत: पूर्ण मुक्ति या मोक्ष तक ही सम्भव है जब ये तीनों मल एक साथ मिट जायें, और यह दायित्व केवल स्वसंवित् ही निभा सकती है।[91]

अन्त में अभिनवगुप्त का शब्द-चित्र अपूर्ण रह जायेगा यदि हम उस कटु आलोचना का थोड़ा-बहुत उल्लेख न करें, जो इसने अन्य दर्शनों पर की है। बौद्ध-दर्शन की चार शाखाओं में इसने केवल दो--सौतन्त्रिक और विज्ञानवादियों को आड़े हाथों लिया है। प्रथम (सौतन्त्रिकवादियों) का कथन है कि ज्ञान क्षणिक है क्योंकि हर एक वस्तु क्षणिक है। ज्ञान का विषय यदि एक घड़े को लिया जायें, तो यह हमारी आंखों और अन्य इन्द्रियों को अपना प्रतिबिम्ब देकर विद्यमान नहीं रहता। अभिनव गुप्त इसका खण्डन इस प्रकार करता है।

सौतन्त्रिकवादियों के तर्क को यदि मान लिया जायें, तो इससे यह ध्वनि साफ निकलती है कि विषय और उसका प्रतिबिम्ब साथ-साथ नहीं रह सकते। परन्तु यह कैसे सम्भव है क्योंकि इन दो का सम्बन्ध कारण और कार्य के रूप में है।[92] कोई भी बाह्य पदार्थ ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है, यदि ऐसा न हो तो कोई भी अनुमान सम्भव नहीं। हम कहीं दूर से धुआं उठते हुए देखते हैं, तो झट हम में आग का ज्ञान होने लगता है। यह आग हमने पहले ही अपनी रसोई

अथवा कहीं और देखी हुई होती है, अत: इस धूमरेखा से हम पुन: उस आग का अनुमान करते हैं, अत: धुएं से आग अलग नहीं रह सकती, इनका विषय और विषयी सम्बन्ध है। अगर इन्हें एक-दूसरे से पृथक समझा जाये तो एक व्यक्ति या पदार्थ का दूसरे से सम्पर्क स्थापित करना बहुत कठिन हो जायेगा। अत: बौद्धों का यह तर्क बुद्धिगम्य नहीं।[93]

विज्ञानवादी बाह्य पदार्थों में विश्वास नहीं रखते। उनका कथन है कि आत्म-चैतन्य क्षणिक है और यह श्रृंखला अथवा धारावाहिक रूप में प्रस्फुटित होता है, एक के शमन के बाद दूसरे का उदय होता है। इस श्रृंखला की कड़ियां वासनायें हैं, जिनसे असंख्य तन्मात्राओं का जन्म होता है, जिन्हें हम दैनिक ज्ञान की संज्ञा दे सकते हैं। अत: ज्ञान एक प्रवृत्ति है जिसकी प्रेरक वासना है। अभिनवगुप्त इस तर्क में निहित विरोध को इस प्रकार प्रकाश में लाता है, सर्वप्रथम यह दर्शन चैतन्य को दो भागों में बांटता है, एक परमार्थ और दूसरा संवृति। यदि बाह्य पदार्थ अयथार्थ हैं, परन्तु इनका आदिस्रोत यथार्थ हैं, क्योंकि जो स्वयं अयथार्थ हो वह किस तरह यथार्थ अथवा अयथार्थ पदार्थों का सृजन कर सकता है। अगर चैतन्य की प्रत्येक कड़ी एक-दूसरे से भिन्न हो, और यदि एक तन्मात्रा वैयक्तिक और अपने में स्वतन्त्र है, तब हर एक आत्मा अपने ही निराले जगत में वास करती जायेंगी, और दूसरों के साथ किसी एक विषय के सम्बन्ध में इनमें किसी प्रकार का साम्य नहीं होगा उदाहरण के तौर पर यदि एक से अधिक व्यक्तियों को एक भारी शहतीर एक जगह से दूसरी जगह ले जाना हो, तो यह काम कैसे सम्पन्न होगा, क्योंकि विज्ञानवादियों के अनुसार वासनायें और तज्जनित तन्मात्रायें हर एक व्यक्ति में एक दूसरे से भिन्न हैं। अत: विद्धान वादियों का चैतन्य की क्षणिकता का तर्क निर्मूल है।[94] तदनन्तर अभिनवगुप्त मीमांसकों के तर्कों का विशलेषण करते हुए इन्हें एकांगी सिद्ध करता है। शैवाचार्य कहता है कि इस दर्शन के आदि प्रवर्तक कुमारिल भट्ट का कथन है कि उनके प्रकटतावाद के अनुसार विषय और विषियन् का सम्बन्ध सचेत आत्मा की अविछिन्न गति द्वारा सम्पन्न होता है, इसलिए यह आन्तरिक ज्ञान कहलायेगा। ज्ञान को वह ज्ञानी की ज्ञानता और प्रकटता का सामूहिक रूप समझता है। ज्ञान ज्ञानता का प्रेरक होने के कारण पदार्थ में प्रकटता का अंश आरोपित करता है।

अभिनवगुप्त इस तर्क का इस प्रकार उत्तर देता है, सर्वप्रथम वह यह कहता है कि कुमारिल भेदवादिन् था, अत: वह ज्ञान के प्रकाश और विमर्श पक्ष

से अनभिए है। यदि विषय और विषियन् की ज्ञानता और प्रकटता की अवस्था पर एक पृथक् अस्तित्व है, तो यह पदार्थों और गुणों पर एक समान लागू हो सकता है, जैसे एक घड़े अथवा कालिमा के रूप में, परन्तु कुमारिल के अनुसार यह पृथक् और अपने में एक स्वतन्त्र विद्यमानता रखने से ये पदार्थ और गुण केवल बहुत कम लोगों को-जो ज्ञानता के साथ प्रकटता की दशा पर पहुंचे हों-नजर आयेंगे, जैसे कुम्हार से बनाया हुआ घड़ा केवल इसके सृजक कुम्हार के सामने ही प्रकट होगा, अन्य कोई इससे अपरिचित रहेगा। परन्तु वास्तविक परिस्थिति ऐसी नहीं। घड़ा सबकी दृष्टि में आता है, न केवल कुम्हार ही इसे देख सकता है, अतः यह प्रकटतावाद अपूर्ण तथा एकांगी है क्योंकि इसका आधार वैयक्तिक अनुभूति ही माना गया है, यही व्यक्तिगत चेतना अन्त में सामूहिक रूप धारण करती है, परन्तु मीमांसक इस के प्रति मौन है, कुम्हार से निर्मित घड़ा केवल उसका ही नहीं सबका बन जाता है, इसी तरह कौए का काला रंग केवल ज्ञानवादी को ही प्रकट नहीं होता, इसे सब देखते और समझते हैं।[95]

इसके बाद अभिनवगुप्त नैयायिकों के तर्क का इस प्रकार खण्डन करता है। नैयायिकों के अनुसार ज्ञान पदार्थों को प्रकाश में लाता-है वैसे ही जैसे एक दीपक।

"ज्ञानस्यार्थप्रकाशत्वं ननु रूपं प्रदीपवत्।"

परन्तु ज्ञान के लिए दीपक का प्रतीक यथार्थ नहीं, क्योंकि इसकी स्वतन्त्र सत्ता है और किसी भी पदार्थ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं जिसे यह प्रकाशित करता है। परन्तु ज्ञान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके साथ पदार्थों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त यह दीपक अपना प्रकाश पदार्थों को देता है, क्योंकि इसी प्रकाश के कारण ही वे स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। जिस प्रकार का अथवा जिस रंग का प्रकाश हो, पदार्थ तदनुरूप हो जाता है, परन्तु नैयायिक यह नहीं मानते कि ज्ञान पदार्थों पर किसी प्रकार का प्रभाव डाल सकते हैं, उनके अनुसार ज्ञान का दायित्व केवल मात्र प्रकाशत्व है। अतः नैयायिकों का यह दृष्टिकोण दोषपूर्ण है।[96]

तत्पश्चात् अभिनवगुप्त सांख्य-दर्शन के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। सांख्यकारों के मतानुसार बुद्धि तीन तत्त्वों पर आश्रित है, सत्त्वस्, रजस् और तमस्। चूंकि इनमें सत्त्वस् की अपेक्षाकृत प्रधानता है अतः बुद्धि "सम्भावतः

नैर्मल्य'' है। अत: वह हर एक ओर से प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के योग्य है, यह एक शीशे के अनुकूल है जिसमें आत्म-चेतना और बाह्य-चेतना एकाकार हो जाते हैं[97], परन्तु इस ''बुद्धिवृत्ति'' के प्रति शैवाचार्य अभिनवगुप्त का आक्षेप इस प्रकार का है--

शीशे और घट का उदाहरण जिस पर इन सांख्यवादियों का तर्क खड़ा है, ठीक नहीं क्योंकि उनके ही तर्कानुसार प्रकाशक और प्रकाश्य का स्वभावासाम्य होना आवश्यक है।

वस्तुत: ऐसा नहीं होता है और न हो ही सकता है, क्योंकि बुद्धि सप्रमाण है और बाह्य पदार्थ अप्राण, वे तो निश्चय ही एक-दूसरे के विरोधी हैं। सांख्यवादी स्वयं भी कभी यह स्वीकार न करेंगे कि बुद्धि की निर्मलता आत्मा की निर्मलता से अधिक है, वैसे ही जैसे दीप-शिखा शीशे में, अथवा सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होता है। वे यह भी नहीं प्रमाणित कर सकते कि क्या बुद्धि आत्मा के स्वप्रकाशत्व से प्रकार रूप बन जाती है या नहीं। अत: बुद्धि का आत्मा से पृथक् अस्तित्व असम्भव है, अत: उसका निर्णय ''जाड्ये नार्थप्रकाशता''--जड़ में पदार्थों को प्रकाशित करने की क्षमता नहीं हो सकती सर्वथा समीचीन और विश्वसनीय[98] है। भेदवादी शैवों के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की आलोचना इस प्रकार की है। इन भेदवादी शैवों के मतानुसार, जिनका अगुआ खेटपाल है, अज्ञान आत्मा का आवरण है, और इस तरह वह ज्ञान और क्रिया बीच व्यवधान बन जाता है। इस अज्ञान का हनन किस कारण से होता है ? क्रिया इसका कारण नहीं हो सकती क्योंकि यह सुख अथवा दु:ख की जननी मानी गई है। परमात्म=इच्छा भी इसका कारण बन नहीं सकती क्योंकि यह पक्षपात-रहित है। वह कतिपय जीवों को दु:ख और कुछ लोगों को सुख नहीं पहुंचायेगा। आगे चलकर अभिनवगुप्त एक प्रश्न करता है कि यह अज्ञान किसको और कैसे छिपाता है। आत्मा तो सनातन तथा अविकारी मानी गई है, अत: अज्ञान इनका आचरण बन नहीं सकता। अगर इन भेदवादियों की बात मान ली जाए, तो आत्मा को नश्वर बनना होगा, यदि यह अज्ञान अनश्वर आत्मा को प्रभावित कर सकेगा, तो मुक्तात्मा शिव भी इससे अछूता न रह पायेगा। यदि ऐसा हो तो ज्ञान का उदय कभी सम्भव नहीं, अत: यह भेदवाद विरोधजनक ही नहीं, अपितु भ्रमजनक भी है।[99]

इस तरह इस अलौकिक शैवाचार्य ने प्रत्येक दर्शन में निहित कमजोरी को अकाट्य तर्कों का सहारा लेकर नंगा करके रख दिया है। उसके विचारों की गम्भीरता और भाषा के प्रवाह के सामने स्वयं शैवशास्त्र के अन्य व्याख्याता सिर भी नहीं उठा सकते। वह शैवदर्शन को ही सर्वोपरि समझता है। यह अन्ध-भक्ति नहीं, न थोथा दुराग्रह है। वह इस दर्शन को इसलिए सब दर्शनों का शिरोमणि मानता है क्योंकि इसमें मानव की आस्था को ढहने से बचाने की सर्वोषधि है, उसके अहं को सुरक्षित रखने का जीवनामृत है। यथार्थता और अयथार्थता के बीच की दूरी, मोम की दीवार, ज्ञान की मीठी आंच से स्वतः सिद्ध पाटी जा सकती है। जीवन के प्रति उसका स्वस्थ दृष्टिकोण इस प्रकार मुखरित होता है--

यस्य हस्तौ च पादौच मनश्चैव च सुसंयतम्।

विद्या तपश्च शीलं च स तीर्थफलमश्नुते॥[100]

"जिसके हाथ, पैर, मन, विद्या, तप और शील सुसंयत हों, पूरी तरह अपने वश में हों, वही तीर्थों पर जाने का पुण्य-फल भोगता है।"

प्रातः स्मरणीय कश्यप की मानस-पुत्री कश्मीर का यह मूर्धन्य विद्वान, शैवशास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित अपने "अभिनव" नाम को शतशः सार्थक बनाता है, क्योंकि उससे रचित ग्रन्थों में भावों की सरस अभिनवता के साथ-साथ भाषा का चिरस्थायी अभिनवता भी समोई हुई है।

--0--

1. भारत-मन्जरी, 2. काव्य-प्रकाश, 3. मोनियर विलियमत-संस्कृत-अंग्रेजी कोष, 4. बालबोधिनिवृत्ति, 5. 25-25, 6. डॉ० राधाकृष्णन्-इंडियन फिलासफी, पृ० 447 7. केटेलोगस केटोलोगम, पृ० 25. 8. 280, 9. अहित्रका-37, 10. राजतरंगिणी- 1, 126. 131. 11. वही-1 140, 12. तन्त्रलोक-अहित्रका 37, 6. 1 14. 13. ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी 11 खण्ड, भूमिका, पृ० 11. 14. भूमिका भगवद्गीता अभिनवगुप्त द्वारा टीका पृ० 2. तन्त्रालोक-- वृत्ति 1-14, 15. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी। 16. राजतरंगिणी--

1/1. 130, 17. वही-1/11, 93, 18. वही--11, 59. 19. संस्कृत में अंक गणना बाईं से की जाती है, "अंकानां वामतो गति:", 20. डा० के० सी० पाण्डे--अभिनवगुप्त- एक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 22, 21. गुलमर्ग के समीप मागाम गांव से पांच मील बाईं को। 22. 295, 23. तन्त्रालोक अह्णिका-37, 24. वही- 1-14, 25. वही। -14-15. 26. श्लोक 105, 27. वही- अहन्निका-37. 28. राजतरंगिणी- 11, 194. 29. वहीं, 186, 30. वही, 103, 31. राजतरंगिणी-11, 32. 1/11, 2488. 33. राजतरंगिणी-1, 168, 34. कश्मीर में ऊंची-ऊंची मिट्टी की टेकड़ियां, कल्हण ने इस शब्द का बहुत प्रयोग किया है और इसे संस्कृत माना है। 35. डा० वेदकुमारी द्वारा सम्पादित, 36. नीलमत 629, 635, 674, 681, 1049 इत्यादि। पिछले पृष्ठ से- 37. कश्मीर की प्राचीन संस्कृति तथा इतिहास-1/1, 140. 37. कश्मीर के हिन्दू इतिहास पर निबन्ध, 38. डा० स्तीन, भूमिका राजतरंगिणी, पृ० 9, 39. राजतरंगिणी-1, 171, 173. 40. राजतरंगिणी--1, 178. शिवसूत्र विमर्शिनी-प्रथम सूत्र, क्षेमराजकृत टीका, 41. शंकरदिग्विजय.-1/1, 54-80. 42. श्लोक 31। 43. डॉ० राधाकृष्ण काव-"प्रत्यभिज्ञा-दर्शन" - तन्त्रलोक 1, 36, 44. जगदीशचन्द्र चटर्जी - कश्मीर शैवदर्शन, पृ० 8, 45. शिवसूत्र विमर्शिनी- क्षेमराजकृत टीका- भूमिका, 46. राजतरंगिणी, 66. 47. आगम-शास्त्र, 48. स्पन्द-शास्त्र, 49. प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र। 50. प्रदीपिका-श्लोक 53, 51. परात्रिंशिका, 71, 52. तन्त्रालोक 1, । 10, 53. वही-- अह्निका 37. 54. परात्रिंशिका विवरण, 55. प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी लघ्वी, 56. प्रत्य भिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी बृहत्ती, 57. तन्त्रसार, 58. तन्त्रालोक, 59. परमार्थसार, 60. गीतार्थ संग्रह। 61. शिवदृष्टि, 118-120, 62. परमार्थसार-प्रारम्भिक श्लोक, 63. सम्पादन-स्वामीलक्ष्मण 64. परात्रिंशिका विवरण-282. 65. शिवसूत्र 1,1, 66. तन्त्र-सार--अह्निका 11/, 67. वहीं, अह्निका। 68. तन्त्रालोक 1, 50, 69. वही, 1,7, 70. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ग्रकारिका-3. 71. परमार्थसार-कारिका 4, 72. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-111, 73. परात्रिंशिकावृत्ति111, 74. (11), 4. तन्त्रालोक-अह्निका 9, 75. विज्ञान, भैरव 40, 76. अभिनवगुप्त- ऐतिहासिक तथा दार्शनिक अध्ययन, पृ० 22-23, 77. परात्रिंशिका विवरण--16, 17. 78. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी--1, 20, 21 79. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी--1, 35,36, 80. वही, 81. तन्त्रालोक--1, 105, 82. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 1, 198. 83. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, 1, 214, 84. वहीं- 1, 208, 85. वहीं- 1, 209, 86. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-111, 1, 87. तन्त्रालोक-1/1, 116, 88. भगवद्गीता-11 अध्याय। 89. तन्त्रालोक, 1, 78-79, 90. वहीं-1/1, 56, 91. वही-1, 62, 92. वहीं-1, 192, 93. वहीं--1/1, 60, 94. वहीं-1, 192. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमार्शिनी-1, 20, 96. वही, पृ 20,. 97. वही, पृ० 21, 98. वही, 1, 44. 99. ईश्वरप्रत्यक्षिज्ञाविमर्शिनी 1, 166, 100. वही-1,190, 101. वहीं--1, 174 102. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी--1, 155, 103. वहीं, 1-156, 104. वही-- 1, 77. 105. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी 1, 77, 106. तन्त्रालोक, 1/111, 30, 49, 107. गीतार्थ-संग्रह, 17 11, 2,11.

कश्मीर का ऋषि-सम्प्रदाय

कश्मीर का आत्मिक उन्नयन इसके भौतिक सौन्दर्य से सदा होड़ लेता आ रहा है, जभी तो कवि बिल्हण ने सगर्व कहा था कि "शारदा देश को छोड़कर मैंने अन्यत्र कहीं भी कुंकम-केसर तथा कविता-विलास को साथ- साथ पनपते नहीं देखा है। नि:संदेह ये एक ही माता की सहोदर-सन्तान है।" कश्मीर के प्राकृतिक रूप-लावण्य ने जहां कश्यप की इस मानस-पुत्री का जी-भर शृंगार किया है, वहां इसके हृदय की धड़कनों ने ससीम और असीम के बीच एक ऐसा मधुर समन्वय स्थापित किया है, जो लौकिक होते हुए भी अलौकिक है, इस तरह शरीर और आत्मा एक स्वर हो उठे हैं, कश्मीर की जागरूक मेधा ने निरन्तर विश्वमयता तथा विश्वोत्तीर्णता शक्ति और शिव, व्यक्त और अव्यक्त के पारस्परिक सम्बन्ध को एक प्रांजल वाणी प्रदान की है, बौद्धों की करुणा और हिन्दुओं की सहिष्णुता ने यहां के जन-मानस में एक अभूतपूर्व दृष्टिकोण का बीजारोपण किया है, जो "उदार चरितानांस्तु वसुधैव कुटुम्बकम्" का पर्याय बन गया है।[1]

यहां के शैवाचार्यों ने "भोग" और "योग" का एक पावन-संगम अपनी रचनाओं में समोकर रख दिया, जीवन से पलायन न करके इससे जूझने तथा मनोनुकूल मोड़ने का दिव्य पाठ पढ़ाया। कश्मीर की इस दिशा में चिरस्मरणीय देन यहां से प्रसूत अभेदात्मक शैवदर्शन हैं। आत्मा का शाश्वत सौन्दर्य 'चैतन्य' है, जो आत्म-शिक्षण द्वारा प्राप्य है, शरीर की अपेक्षा इस शैव-शासक में आत्मा पर अधिक बल दिया गया है, आचार्य अभिनवगुप्त ने तो यहां तक कह डाला कि शरीर तो मकान है, किसी भी गारे-मसाले से बनाया जा सकता है, इसमें रहने वाली आत्मा ही हमारे चिन्तन का विषय हो सकती है, क्योंकि यह निर्विकार है।[2] जीवन के प्रति ऐसा सुव्यवस्थित, स्वस्थ तथा यथार्थवादी दृष्टिकोण इन शैवाचार्यों की

अप्रतिम विदग्धता का ज्वलन्त प्रमाण है। इसी भावात्मक विह्वलता से आत्म विभोर होकर लल्लेश्वरी ने कश्मीरी भाषा के माध्यम से अपने मानसिक उत्ताप को ठण्डा किया, चौदहवीं शताब्दी तक आते-आते कश्मीर की संस्कृति ने शैवधर्म के सिद्धान्तों को आत्मसात किया था, जिनकी मुखर गायिका लल्लेश्वरी बन गई।[3] जीवन को ''अ'' -निषेध के स्थान पर ''स''-सकारना-ही कश्मीरी चिन्तन का एक प्रधान स्तम्भ इसी लिए बन गया।

जीवन का सबसे बड़ा सत्य इसकी नश्वरता न होकर इसकी परिवर्तन शीलता है, क्योंकि जीवन का क्षणिक सम्बन्ध कथा से है, जो नश्वर है। इसका स्थायी सम्बन्ध तो मन से है, विचार-सामग्री से है जो शरीर के उठ जाने पर भी सदा बहार रहती है, परन्तु इसकी एक रसता इसके लिए विष बन जाती है मानव की मेधा किसी बने-बनाये एक ही खूंटे से बान्धी नहीं जा सकती, इस तरह यह कुण्ठित हो जाती है, विद्रोह करके रस्सी तोड़ कर उच्छृङ्खल बन जाती है, अत: इसे अग्रसर होने के लिए यथेष्ट प्रेरणा दी जानी अभीष्ट है, नवीन चिन्तन-शैली नए मूल्यों की जननी बन जाती है और पुराने मूल्यों को एक विमाता की तरह बाहर खदेड़ना चाहती है, परन्तु यहां वह उभरते आवेश के उन्माद में भूल बैठती है कि नवीन प्राचीन का ही सुसंस्कृत रूप होता है, नवीन वातावरण की मांगें इसे मनोनुकूल ढालने का सबल-साधन बन जाती है, समूचे विश्व का इतिहास इसी नवीन और प्राचीन आंख-मिचौली खेलते-खेलते बन-संवर पाया है।[4]

इसी पृष्ठभूमि में कश्मीर के इतिहास ने सन् 1336 में एक स्वाभाविक करवट ली जब यहां पर सुल्तानी शासन का श्रीगणेश हुआ। राज परिवर्तन के साथ-साथ धर्म परिवर्तन का उग्रतम रूप कश्मीरियों को देखने को मिला, जिसके उत्तरदायी वे हिन्दू राजे थे जो सन् 1155 से सन् 1336 तक कश्मीर के सिंहासन पर आसीन थे, उनकी विलास-प्रियता, अदूरदर्शिता अयोग्यता, राजनीतिक नपुंसकता तथा नृशंसता ने मिलकर एक ऐसा परिवेश बुन डाला था जिसका अनिवार्य फल सुल्तानी शासन था, मानव जब आत्म-कल्याण करने के प्रति अन्धा हो उठता है, तो प्रकृति

स्वयं इस दायित्व को निभाने के लिए उद्धत हो जाती है, इसे देखते-देखते निरस्त्र कर देती है और ये अस्त्र किसी अन्य को सौंपती है, जो सबसे पहला वार उसी योग्य समुदाय पर करता है जो सब कुछ पाकर भी इसे खोने पर तुला हुआ होता है, इस तथ्य को पारिभाषिक शब्दावली में 'प्रकृति का प्रतिशोध' कहा गया है। कश्मीर की राजनीतिक बिसात पर चौदहवीं शताब्दी में इसी कारण से नए मुहरों ने जीवन-दान पा लिया, हिन्दू-विश्वासों को छल-बल से ढहने में कुछ समय ही नहीं लगा, इनकी नींव खोखली हो चुकी थी ये रेत के घरौंदे थे, और इस्लाम धर्म अपनी पूरी सज-धज के साथ कश्मीर में बिना दस्तक दिए प्रविष्ट हुआ।[5]

वास्तव में कश्मीर को एक सुदृढ़ इस्लामी गढ़ बनाने में ''सैयद अली हमदानी शाह हमदान'' का बड़ा हाथ रहा है,[6] तैमूर की नृशंसता से घबराकर यह् मुस्लिम-सूफ़ी इस्लामी धर्म-ग्रंथों में दिग्गज, अपने सात सौ शिष्यों के साथ मध्य-एशिया के रास्ते यहां प्रविष्ट हुआ, यह विडम्बना ही है कि कश्मीर में इस्लाम-धर्म पश्चिम एशिया से न आकर मध्य-एशिया की देन है। ''शाह हमदान'' के सुपुत्र सैयद मुहम्मद-हमदानी ने कश्मीर की सांस्कृतिक विजय करके इसकी राजनीतिक विजय को परिपूर्ण बनाया।''[7]

अत: स्पष्ट हो जाता है कि कश्मीर की सांस्कृतिक थाती में इस्लाम का योगदान समय की मांग थी, और यह दायित्त्व सूफ़ियों ने पूरा करना चाहा।[8] परन्तु कश्मीर की जनता में वे उतने लोकप्रिय न हो सके, डा० मोहिबुल हसन का मन्तव्य है कि सूफी ऋषियों के प्रति उदार न थे, इस विरोध का मूल कारण यह हो सकता है कि सूफियों के पाण्डित्य पूर्ण उपदेश पहेलियों जैसा सीधी-सादी जनता के लिए दुरुह बन गया, वे साधारण स्तर पर सामान्य जीवन दर्शन के प्रति अधिक उत्सुक थे, ऋषियों ने जनता की इस मानसिक तथा अध्यात्मिक प्यास बुझाने के लिए लौकिक माध्यम का ही प्रयोग किया जिससे उनका सन्देश अधिक ग्राह्य बन गया, इसके अतिरिक्त इन ऋषियों ने हिन्दू-विश्वासों को अपने जीवन में चरितार्थ करके नव-दीक्षित मुस्लिम जनता को अतीत से कटने न दिया, यह जनता कुछ समय पहले हिन्दू ही थी, अत: हिन्दू-संस्कारों के प्रति

वह अभी जागरूक थी, ऋषियों ने इस न्यूनता को सूफ़ियों का अपेक्षा अधिक यथार्थता से भांप लिया, अतः का सक्रिय सहयोग उन्हें स्वतः सुलभ हो सका, जिस प्रकार जायसी आदि सूफ़ी हिन्दी कवियों ने हिन्दुओं की भाषा तथा आस्था का विस्तृत विवेचन करके मूलतः इस्लाम का प्रचार किया[9], यही बात कश्मीर के ऋषियों ने दुहरायी।

यहां पर यह कह देना भी समीचीन दिखाई देता है कि सूफ़ियों ने जिस दृष्टिकोण को जन्म दिया, उसमें मूल इस्लामी सिद्धान्तों की अवहेलना होने की आशंका थी, सैय्यद अमीर आदि इस प्रसंग में कहते हैं-''बहुत से सूफ़ियों ने अपने नत की व्याख्या करते हुए असावधानी से काम लिया है, और इस्लामी विश्वासों के साथ अन्य धर्मों की पैबन्द सी लगाई है, जो उचित नहीं था,[10]'' सम्भवतः इस खटके ने भी सूफ़ियों के प्रति यहां उपेक्षा को जन्म दिया।

यहां पर यह कह देना सर्वथा संगत दिखाई देता है कि हज़रत मुहम्मद का जीवन एक खुली किताब थी, यह अप्रतिम जीवन सरल, सीधा और ऋजुता से भरपूर था, सैयद अबुल हसन नदवी का इस सम्बन्ध में कथन है- पैगम्बर मुहम्मद ने न केवल प्रवचनों द्वारा बल्कि उनका अनुकरण करके जिस आत्म-संयम और अनुशासन की शिक्षा दी, उसे औरों तक पहुंचाने के लिए अतीव सावधानी की अपेक्षा थी[11] इस दायित्व को कश्मीर के ऋषियों ने बहुत ही प्राजंलता से पूरा किया। कश्मीर के इन मुसलमान सन्तों ने ''ऋषि'' शब्द को अपने सम्प्रदाय के लिए चुन कर अतीव विदग्धता और दूरदर्शिता का परिचय दिया है, हिन्दू-जनता में इन के लिए आदर पैदा होना स्वाभाविक ही था, परन्तु विचित्र बात तो यह है कि कश्मीर के हिन्दू-इतिहास में केवल कश्यप ही एकमात्र ऋषि है,[12] शेष मनीषियों को ''आचार्य'' इत्यादि उपाधियों से विभूषित किया गया है,[13] ऋषि शब्द का प्रचुर प्रयोग और प्रचार मुसलमानों द्वारा ही हुआ है।

इस ऋषि सम्प्रदाय के प्रवर्तक ''नूर दीन वली' माने जाते हैं, जिन्हें कश्मीरी जनता सौहार्द से ''नुन्द ऋषि'' के नाम से पुकारती है, वैसे तो इनके अन्य नाम ''शेख-उल-आलम' तथा 'अलमदारि कश्मीर' भी है। बिना

किसी संकोच के उन्होंने इस ऋषि-सम्प्रदाय के आदि-गुरु हज़रत मुहम्मद को स्वीकारा है-

"अव्वल ऋषि अहमद ऋषि।"[14] और इसी स्वर से स्वर मिला कर अलम दारि कश्मीर ने यह जय-नाद फूंका:

"पा'रि पा'रि ल'गजे तस पैगम्बरस,

तस हून्दिस दोरस रहमत जा'री।

का'लि य'लि हख लगि रोज़ि महशसरस,

तस कुन वो'मेद वार आ'सन सा'री ॥[15]

"हमें पैगम्बर मुहम्मद पर निछावर होना चाहिए, जिनके अविर्भाव से करुणा का सूत्रपात हुआ, जब क़यामत के दिन पर लोगों की लामबन्दी होगी, तो सब त्राण के लिए उनकी ओर आस-भरी नजरों से देखेंगे।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि-सम्प्रदाय का प्रेरणा-स्रोत हजरत मुहम्मद और कुरान-शरीफ है, इस बात में कोई वजन दिखाई नहीं देता कि ऋषियों ने कश्मीर की प्राचीन परम्परा को वाणी दी है।"[16] वास्तव में इन्होंने इस्लामी दृष्टिकोण के अनुरूप कश्मीरी चिन्तन की व्याख्या की, इनका यह योगदान कम महत्त्व का नहीं, कश्मीरी मूल्यों में इस समय तक केवल बौद्ध और हिन्दू मनीषा का बोलबाला था, ऋषियों ने इसमें मुस्लिम विश्वासों का भी सम्मिश्रण किया, इस तरह गंगा-यमुना के साथ सरस्वती का भी पावन संगम निर्मित हुआ, यही सांझा जीवन-दर्शन कश्मीरियों की अमूल्य निधि है।

कुरान-शरीफ का यह प्रवचन नुन्द ऋषि ने कश्मीरी भाषा के माध्यम से इस तरह उजागर किया है-

"खुदा की सृष्टि एक ही परिवार है, जो खुदा की सृष्टि से प्रेम करता है, वही खुदा का प्यारा है।"[17]

"अ'किस मा'लिस माजि ह्यन्द्यन
तिमन दि'य त्रा'विथ क'याह गद्वे।

मुसलमानन क्याव ह्यन्द्यन
कर बनदन तोशि खुदाय।''[18]

''एक ही माता-पिता की सन्तान होने से मुसलमान और हिन्दू बैर को त्यागने से एक-दूसरे के अधिक समीप आ सकते हैं, अन्यथा खुदा इन बन्दों पर प्रसन्न नहीं होगा।'' ऋषि सम्प्रदाय का उस समय जन्म हुआ जब हिन्दुओं से कश्मीर का राज छिन चुका था, इस संक्रमण-काल में सुल्तानों ने कश्मीरी जनता को धर्म परिवर्तन के लिए विवश किया, दुर्भाग्य से उन्होंने हिंसा के साधन अपनाकर इस ध्येय की पूर्ति करना चाही, कटुता का इस तरह जनता में छा जाना एक स्वाभाविक बात थी, तलवार के जोर से धर्म परिवर्तन करवाना स्थायी भी नहीं रह पाता, अतः इन ऋषियों को कड़वाहट के स्थान पर मिठास से काम लेना अधिक श्रेयस्कर सूझा, सुल्तानों और ऋषियों का ध्येय समान था, परन्तु साधन भिन्न-भिन्न थे, ऋषियों ने इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए आमिष-भोजन खाना छोड़ दिया, यहां तक की गृहस्थ बसाने के प्रति भी वे उतने उत्सुक न रहे, जनता की सेवा करने से उन्होंने जनता का मन मोह लिया,[19] इस जीवन-दर्शन को अपनाने से ऋषियों ने वह चमत्कार कर दिखाया जो सुल्तानों की कटारें और मुल्लाओं की तबलीग सिद्ध करने में असफल रहीं, ऋषियों ने हृदय से हृदय को पुकारा, और जो कुछ भी कहा उसे अपने जीवन में उतारा, लोगों में इस तरह उनकी प्रतिष्ठा दिनों दिन बढ़ने लगी।

''कुल अ'लिम छउ अ'लिफ लाम मीन शी।[20] ''सब विद्यायें अल्लाह जबरील मुहम्मद और शरीयत में निहित हैं।''

यह कहकर भी उन्होंने शैवों के ''अभेद'' का इस प्रकार प्रतिपादन किया-डेरा

सु म्य' निशे, बुँ तस निशे
म्य' तस निशे करार आव।
मह कैं छोंडुम म्ये परदीशे
पन'ने दीशे म्य' यार आव॥''[21]

''वह मेरे पास है और मैं उसके पास, इस प्रकार के मिलने से मुझे असीम शान्ति प्राप्त हुई, व्यर्थ ही मैंने उसे दूसरे देशों में ढूंढा, क्योंकि मेरा

मीत मेरे ही देश में मुझे मिल गया।'' कश्मीर का ऋषि सम्प्रदाय साधना और आत्मोर्त्सग की चरम सीमा है, प्रेम से इसकी भाव विह्वलता अभिसिक्त है, गीत इसकी आराधना है, अभेद' इसका सुनहरा आदर्श है, इस साधना में अनछुये ओस-कणों की निर्व्याज पवित्रता है, गुलाबी उषा की कोमल मनोहरता है मध्याह्न के सूर्य की तपन है।

---

1. लेखक द्वारा प्रणीत शोध-प्रबन्ध से कुछ उद्धरण !! विक्रमाङ्कदेव चरितम्म्-XVII 2. ''परमार्थसार'' 3. ''लल्लवाक्यानि'' - सर जार्ज ग्रियर्सन, 4. राजतरङ्गिणी-जोनराज, श्लोक 36-264, 5. वही, 6. हसन खोय्यामी-''तारीखि-कश्मीर'' 7. राजतरङ्गिणी, जोनराजाज-श्लोक 573, 8. ''कश्मीर अंडर सुल्तानस'' पृ० 222-225, 9. ''हिन्दी साहित्य का इतिहास'' रामचन्द्र शुक्ल, 10. ''स्पिरिट आफ इस्लाम, पृष्ठ 447, 11. ''इस्लाम एण्ड दि वर्ल्ड'' -पृष्ठ 207, 12. नीलमत पुराण, कल्हण कृत राजतरङ्गिणी, 13. यथा आचार्य वसुगुप्त, आचार्य सोमानन्द आदि, 14. नूरनामा-श्री अमीन कालिदास, 15. नूरनामा-पृ० 42, 16. ''सुल्तानस आफ कश्मीर-डेश डा० आ० के० पारमू, 17. कुरान-शरीफ 23, 54, 18. सूरनामा-पृ 48. 19. आईन-अकबरी, 20. नूरनामा पृ० 177. *21. वहीं पृष्ठ 24=;*

खण्ड-दो

<u>संस्कृत और संस्कृति के ज्योति स्तंभ</u>

- इतिहासकार कल्हण—77
- गीतकार बिल्हण—94
- जनकवि क्षेमेन्द्र—106

इतिहासकार कल्हण

इतिहास-लेखन की कला कश्मीरी ब्राह्मणों की बहुमुखी प्रतिभा का एक विशिष्ट अंग रही है। इतिहास-ग्रन्थ और माहात्म्य इस सत्य का अकाट्य प्रमाण है, परन्तु इतिहास-लेखन का जो आजकल अर्थ लिया जाता है, वह संस्कृत साहित्य में विद्यमान नहीं। इतिहास राजाओं के उत्थान-पतन का व्यौरा समझा गया है, परन्तु इसमें जनसाधारण की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक उपलब्धियों का भी विस्तृत वर्णन होना अभीष्ट है, परन्तु इस प्रकार के तथ्य कल्हण् की राजतरंगिणी में बीनने चील के घोंसले में मांस ढूंढना कहलायेगा। प्रथम उसके समय में इतिहास-लेखन में इस प्रकार की नवीनता का कहीं भी अस्तित्व नहीं था, ग्रीक-संस्मरण भी इस दोष से मुक्त नहीं।[1] कल्हण को जनसाधारण के प्रति इस प्रकार की उपेक्षा बरतने का दोषी ठहराने से पूर्व हमें इस तथ्य की ओर संकेत देना उचित दिखाई देता है, कि इस कश्मीरी इतिहासकार ने स्पष्ट रूप से अपने ग्रन्थ का शीर्षक ''राजतंरगिणी'' रखा है-राजाओं को प्रवाहमयी नदी- इस तरह उसने केवल राजाओं के इतिहास को अंकित करना अपना दायित्व समझा है, लोक-जीवन के प्रति वह इसीलिए मौन है। अत: मेक्डोनल का यह कथन कि राज-तरंगिणी में शुद्ध ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है, सत्य की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता।[2] ऐतिहासिक काव्यकारों में कल्हण की देन ठोस और वजनदार है, इसीलिए वह इस साहित्यिक विधा का सर्वप्रथम कवि होकर भी सर्वश्रेष्ठ भी है, इसके बाद आने वाले संस्कृत इतिहासकारों ने इसे ही अपना गुरु और आदर्श स्वीकार किया है।[3]

स्पष्ट रूप से कल्हण शब्द संस्कृत से सम्बद्ध नहीं, लोक-भाषा में इसका कोई न कोई अर्थ अवश्य रहा होगा, जिसकी जांच करने में इस समय हम असमर्थ हैं। कश्मीरी साहित्यकारों ने प्रधान रूप से देशीय नाम रखने की परम्परा अपनाई है, अत: बिल्हण[4], मम्मट्[5] रुद्रट[6] इत्यादि नाम इस दिशा में हमारा मार्गदर्शन करते हैं।

डा० स्टीन ने राजतरंगिणी की वैदग्ध्यपूर्ण भूमिका में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कल्हण संस्कृत ''कल्याण'' का देशीय रूप है। इस सन्दर्भ में उन्होंने मङ्खक कवि प्रणीत श्रीकण्ठचरितम के टीकाकार जोनराज का एक उद्धरण

प्रस्तुत किया है। यहां पर जोनराज लिखता है कि ''कल्याण'' ने महाभारत और रामायण की कथाओं का सुरूचिपूर्ण संस्करण तैयार किया था[7], परन्तु वह भी कल्हण को ''कल्याण'' नहीं समझता, ''कल्हण'' का वह देशीय नाम ही देता[8] है, यह ''कल्याण'' कोई अन्य कवि होगा जिसने महाभारत और रामायण के आधार पर सुन्दर कथाओं का प्रणयन किया था। यह ग्रन्थ इस समय प्राप्य नहीं, अन्यथा यह सारा विरोध शान्त होता। इसके अतिरिक्त कल्हण ने कहीं भी रामायण और महाभारत की कथाओं के संक्षिप्तीकरण की बात नहीं की है, अत: इस प्रकार की अयथार्थ पतंगबाजी करना हमें ठीक दिखाई नहीं देता। यद्यपि ध्वनियों के आधार पर ''कल्याण'' का अपभ्रंश रूप ''कल्हण'' हो सकता है, परन्तु इस दिशा में हमें डा० कीथ[9] के निर्णय पर ही सन्तोष करना होगा कि इस प्रकार के तर्कों को बहुत ही सतर्कता से अपनाना ही उचित है।

''कल्हण'' अपने वृत के सम्बन्ध में मौन है, वह न अपने जीवन और न अपने वंश के सम्बन्ध में कुछ लिखता है, उसका नाम राजतरंगिणी के प्रत्येक सर्ग तरंग के अन्त पर इस प्रकार दिया गया है--''इति श्री काश्मीरमहामात्य चम्पक प्रभु-सूनोः कल्हणस्य कृतौ राजतरंगिण्यां (अमुक:) तरंग।'' सौभाग्य से वह अपने पिता का नाम देता है और यह भी बताता है कि वे महामात्य (प्रधानमन्त्री) थे। इस जागरूक इतिहासकार ने अपनी रचना को लिपिबद्ध करने का समय भी दिया है, यह लौकिक संवत् का 4224 वर्ष है, जो सन् 1148-49 बैठता है। एक वर्ष के पश्चात् उसने यह तरंगिणी समाप्त की।[10] अपने पिता चम्पक का वह वर्णन राजा हर्ष के प्रसंग में करता है, सम्भवत: वह उसी का महामात्य रहा हो, क्योंकि वह राजा हर्ष को मन्त्रणा देते हुए बहुत बार दिखाया गया है[11], इसके अतिरिक्त वह द्वारपति[12] तथा मण्डलेश[13] भी रह चुका था, प्रतीत होता है कि कल्हण ने अपने पिता की मृत्यु के बाद ही राजतरंगिणी का प्रणयन किया, क्योंकि जिस रचना-काल की ओर उसने ऊपर इशारा किया है वह राजा जयसिंह का है, अत: यह सिद्ध होता है कि चम्पक निसन्देह सन् 1136 ई० तक जीवित थे, जो हर्ष की हत्या के बाद का पच्चीसवां वर्ष है, और इस समय जयसिंह कश्मीर का शासक था, क्योंकि कल्हण लिखता है कि इस वर्ष (1136 ई०) में भी वह अपने पिता के साथ नन्दि क्षेत्र की यात्रा को गया था।[14]

कल्हण अपने इतिहास-ग्रन्थ की मौलिकता के प्रति उदासीन है, और बहुत ही विनम्र भाव से लिखता है---

''पूर्वबद्धं कथावस्तु मयिभूयो निबध्यति।
प्रयोजनमनार्कण्य वैमुख्यं नोचितं सताम्॥''[15]

''पूर्वकालीन साहित्यकारों से जो विषय लिपिबद्ध किये गये हैं, मैं उनको फिर से (संशोधित रूप में) लिखता हूं, मेरे प्रयोजन को सुने बिना सत्पुरुषों का मुझ से विमुख होना उचित नहीं।''

उस प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कल्हण इस प्रकार की वकालत करता है-

''दाक्ष्यं किमदिदं तस्मादस्मित् भृतार्थवर्णने।
सर्वप्रकारं स्खलिते योजनाय ममोद्यम:॥''[16]

''इसमें वैसी चतुरता है कि पूर्वकालीन रचनाकारों की कृतियों को फिर से लिखें। मेरा प्रयत्न केवल इतना है कि जहां-जहां इनकी क्रमबद्धता में व्यवधान आया है उसे पूर्णरूप से धारावाहिक बनाऊं।''

अत: हम कह सक्ते हैं कि कल्हण् पुनरुक्ति के स्थान पर पुनर्व्याख्या से काम लेना चाहता है, क्योंकि पुराने इतिहास-ग्रन्थ या तो लुप्त हो चुके थे पर इनमें घटनाओं के क्रम में सावधानी नहीं बरती गई थी, अत: कल्हण ने इन विश्रृंखल-रचनाओं को क्रमबद्ध इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया। इस दिशा में वह हमें इस सत्य से अवगत करता है कि कश्मीर के पुराने इतिहास-ग्रन्थ बहुत ही विस्तीर्ण थे, अत: ''सुव्रत'' ने उन्हें एक ही रचना ''सुव्रत-भारती'' में संक्षिप्त रूप से समो दिया परन्तु यह पुस्तक आगे चल कर लुप्त हो गई। इसी तरह क्षेमेन्द्र की ''नृपावली'' का भी यही हाल हुआ। फिर भी कल्हण ऐतिहासिक स्त्रोतों के प्रति जागरूक है और कहता है कि उसने राजकथा विषयक ग्यारह ग्रन्थों का अवलोकन किया, और इनके अतिरिक्त नीलमतपुराण का पूरी तरह अध्ययन किया। इतना ही नहीं, प्राचीन मन्दिरों के प्रतिष्ठापट्टों, तथा प्रशस्तिपत्रों से भी उसने सहायता ली, ताकि उसका इतिहास-ग्रन्थ दोष रहित बन जाये। इनमें दान-पत्र, शिलालेख इत्यादि भी शामिल थे।[17] पूर्वकाल के विश्व साहित्य में विरले ही किसी व्यक्ति ने अपनी कृति को इतना विश्वस्त बनाने के लिए इतना परिश्रम किया होगा।

इसके साथ ही कल्हण इतिहास-लेखन का यह मानदण्ड भी स्थापित करता है--

''श्लाघ्य: स राव गुणवान् रागद्वेष बहिष्कृता।
भूतार्थ कथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ॥''18

''केवल वही गुणवान प्रशंसनीय है, जो पूर्वकाल की घटनाओं का बिना राग-द्वेष के वर्णन करें और जिसकी बुद्धि एक न्यायाधीश की तरह (तटस्थ तथा

मंजी हुई) हो।''

राजतरंगिणी की अन्तर्साक्षी के आधार पर हम यह कहने में पूरी तरह सत्य का आश्रय लेंगे कि कल्हण् ने बिल्हणकृत ''विक्रमांकदेवचरित'' का अध्ययन किया था। उसने स्वच्छन्दता से उसकी शैली और वाग्भण्डार का प्रयोग किया है।[19]

बाणप्रणीत ''हर्षचरित'' का भी उसने अवलोकन किया था, महाराज हर्षवर्धन विषयक यह इतिहास-ग्रन्थ कश्मीर में बहुत लोकप्रिय था, मम्मट् ने अपने ''काव्यप्रकाश'' में इससे एक अवतरण भी दिया है।[20] रामायण और महाभारत से भी वह पूरी तरह परिचित था, क्योंकि इसने इस महाकाव्यों से बहुत से उदाहरण अपनी रचना में दिये हैं। इस तरह कल्हण ने अपने दायित्व को सार्थक बनाने के लिए हर एक स्रोत से लाभ उठाने का परिश्रम किया है। वह अपनी ''तरंगिणी'' में भावों का गहरापन लाने का बहुत ही इच्छुक था।

राजतरंगिणी की सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि राजकीय रिसर्च पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह शारदा लिपि में अंकित है। गण काक द्वारा सम्पादित एक और पाण्डुलिपि भी वहीं पर है जिस पर पं० साहिबराम ने टिप्पणियां भी दी हैं।[21] यहां पर यह बताना समीचीन होगा कि कल्हण ने अपने ग्रन्थ का प्रणयन शारदा लिपि में किया था, क्योंकि यह देशीय लिपि थी, इसे देवनागरी में परिवर्तित करने के लिए एक ऐसे महापण्डित की अपेक्षा थी जो शारदा के जटिल लिपि-विन्यास और शब्दसाम्य से पूरी तरह अवगत हो। दुर्भाग्य से ऐसे लिपिकारों का अभाव होने से इसके देवानागरी रूपान्तरण में बहुत सी अशुद्धियां समो गईं। राज-तरंगिणी का कलकत्ता संस्करण इसका ज्वलन्त प्रमाण है।[22] ''बिल्हण्'' को ''रिल्हण्'' बनाने के अतिरिक्त इसमें इतने दोष आ गए थे कि इसके अंग्रेजी अनुवाद ने बहुत-से विरोधों को जन्म दिया। डा० बूलहर ने हमारा ध्यान इस त्रुटि की ओर आकृष्ट किया था, फलत: कई विद्वानों ने इसके अपेक्षाकृत प्रामाणिक संस्करण की खोज आरम्भ की। डा० स्टीन इस अभियान में सफल हुए, जब उन्हें राजानक रत्नकण्ठ द्वारा प्रणीत ''अनुक्रमणिका'' हाथ लगी। इसका रचनाकाल सन् 1648-1685 ई० है। इस अनुक्रमणिका में राजतरंगिणी का प्रामाणिक कश्मीरी संस्करण लिपिबद्ध किया गया था, जिसके अध्ययन से बहुत-से विरोध शान्त हुए, बहुत-सी गांठें स्वत: खुल गईं।[23] डा० महोदय ने लाहौर के एक कश्मीरी पण्डित जगमोहन लाल हण्डु से भी राजतरंगिणी का एक संस्करण प्राप्त किया[24], यह ''अनुक्रमणिका'' में दिए गए संस्करण की प्रतिलिपि थी। इस प्रकार इनके प्रामाणिक होने में कोई भी

संशय न रहा। वास्तव में राजतरंगिणी को संसार से परिचित कराने का श्रेय डा० विल्सन को है। सन् 1825 ई० में उन्होंने प्रथम छ: तरंगों पर आधारित एक शोध-प्रबन्ध प्रकाशित किया।[25] मि० ट्रॉयर ने आठों तरंगों का अंग्रेजी अनुवाद करने का भार अपने ऊपर लिया और इसे सन् 1840 ई० से सन् 1852 ई० तक पूरा किया।[26]

परन्तु उसे संस्कृत का ज्ञान अधूरा था, अत: कलकत्ता संस्करण से जनित भ्रामक तथ्यों को अधिक उत्तेजना मिली। इनके अतिरिक्त श्री मॅक्राप्ट, श्री कोलब्रुक तथा डा० हुल्श ने कलकत्ता संस्करण का उपयोग करके बहुत सारगर्भित लेख लिखें। भारतीय विद्वानों में श्री योगेशचन्द्र दत्त तथा आर० एस० पण्डित के अंग्रेजी अनुवाद उल्लेखनीय हैं। अभी हाल ही में डा० रघुनाथ सिंह ने इसका हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित किया है।[27]

राजतरंगिणी की प्रस्तावना में कल्हण् इतिहासकार की अपेक्षा कवि बना रहना अधिक श्रेयस्कर समझता है--

''कोऽन्य: कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षम:।
कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिन:॥''[28]

''प्रजापति ब्रह्मा के समान सौन्दर्य का निर्माण करने वाले कवियों को छोड़ कर किसमें इतना सामर्थ्य है कि वह अतीत को प्रत्यक्ष रूप में सामने प्रस्तुत करें।

इस तरह कल्हण् का विश्वास है कि केवल कवि ही भूत और वर्तमान की सीमायें एक कर सकता है। काव्य का लक्षण देते हुए आचार्य मम्मट् का कथन है कि यह एक ऐसी रचना है, जिसमें उपयुक्त छन्दों का प्रयोग हुआ हो, जो दोष-रहित हो, और सार्थक शब्दों से बुनी गई हो जिनमें रस, गुण और अलंकारों का सन्तुलित समावेश हो।[29] इस तरह यह पूर्वधारणा बन जानी स्वाभाविक है कि कवि का काव्य-शास्त्र पर पूरा अधिकार होना अभीष्ट है, परन्तु कल्हण् अपनी विद्या इत्यादि के सम्बन्ध में चुप हैं, अत: हमें उनकी तरंगिणी में से ही ऐसे उदाहरण ढूंढने होंगे जो उसे कवि को कोटि में प्रवेश करा सकें। इसके साथ ही हम यह लिखना संगत समझेंगे कि कल्हण् सहज ज्ञान से तो कवि था परन्तु व्यवसाय से एक इतिहासकार ही है। उसका प्रधान दायित्व कश्मीर के राजाओं का वर्णन करना था, काव्य इसका माध्यम-मात्र बना। इतना सब कुछ होते हुए भी कल्हण् का कवित्व प्रगल्भ है और अनेक अवसरों पर यह कवि-कल्पना के उत्कृष्ट नमूने प्रस्तुत करता है---

"निगर्ते मन्जरी कुन्जादपश्यत् पुरतः ततः ।
कन्ये नीलनिचोलिन्यौ से केचिच्चारूलोचने॥
कर्णिकापद्मरागाब्जनाललीलायितस्पृशा।
मनोज्ञधवलापांगे तनीयोन्जनरेखया॥
हरिनेत्रान्चलैर्मन्दमारूतान्दोलनाकुलैः ।
सनथासयुगे रूपपताका पल्लवैरिव॥"[30]

"नीले शाल पहनी हुई, सुन्दर-मधुर आंखों वाली दो कन्याओं को उसने (विशाख ने) मंजरी-कुन्ज से निकलते देखा, कामदेव के समान सफेद आंखों के कोनों की पतली अंजन-रेखा उनके कानों के कुण्डलों में जड़ें हुए पद्मराग मणि के साथ कमलनालसदृश लग रहा थी। उनके दोनों कन्धों पर हल्की बयार से हिलने वाले उनके मुंह चिपके हुए थे, जिनके अंचल उनके चंचल नेत्रों के रूप में रूप की पताका के पत्ते जैसे लग रहे थे।" इन पद्यों में उपमाओं का प्रचुर ही नहीं, प्रांजल प्रयोग हुआ है।

तीसरे तरंग के मंगल-श्लोक में शिव और पार्वती की बातचीत हमें कालिदास के "कुमारसम्भव" की याद दिलाती है।[31] प्रसंग एक समान होते हुए भी शिव के तथाकथित अमंगल स्वरूप को कल्हण् इस प्रकार उचित ठहराता है---

"मुन्चे भाजिनमस्य कुम्भ कुहरे मुक्ताः कुचाग्रोचिताः
कि भाल ज्वलनेन कज्जलमतः स्वीकार्यमक्ष्णोंः कृते।
संधाने वपुर धर्मोः प्रतिवदन्नेवं निषेधेप्यहेः
र्क्तव्य प्रिययोत्तरानुसरणीघू क्तो हरः पातु वः ॥"[32]

वह शिव आप सब की रक्षा करें जो पार्वती के आक्षेपों का उत्तर इस प्रकार देता है--(पार्वती कहती है) "हाथी की खाल (ओढ़ना छोड़ दे।)" (शिव का उत्तर) "इसके माथे के गड्ढे में वह मोती हैं, जो तुम्हारे स्तनों की नोकों को सजाने के उपयुक्त हैं।" (पार्वती कहती है।) "तुम्हारे ललाट पर प्रज्वलित आग का क्या लाभ?" (शिव का उत्तर) "इसी से काजल पाकर तुम अपनी आंखों पर लगाओगी", इसी पर अर्थनारीश्वर के विषय में उत्तर देकर, और अपनी प्रिया के सांप का निषेध करने पर, (वह शिव) उत्तर देने में प्रवीण हैं।"

निम्नांकित श्लोकों में अलंकार-विधान बहुत ही मार्मिक हो पाया है-

"प्राच्छाद्यत बलऽऽबालाकरालैंधूमराशिभिः।
व्योमपिंगकवपूम श्रुजालैंनक्तंचरेरिव॥
निर्धूमस्य विसारिण्यो ज्वाला हव्य भुजोदधुः।
संतापद्रुतहेमाभ्रसुर्वणलहरी भ्रमम्॥

संतापविद्रुतव्योमचारिमौंलिपरिच्युताः।
रक्तोष्णीष इव भ्रैर्मुज्वालाभ्रगानभोगने॥"[33]

(चक्रधर मन्दिर के जलने का वर्णन।)

"आकाश धुयें की लपटों से भयानक तौर पर घिर गया, जिसकी ज्वाला में ऐसी चमक थी कि यह निशाचरों की घनी लाल दाढ़ी-मूंछ-सी लग रही थी।

उस तेज आग की लपटें जिसका धुआं समाप्त हो चुका था, सोने के बादल के पिघलने पर सोने-समान लहरों का भ्रम पैदा करती थी।

यह आकाश आग की लपटों से इतना घिरा हुआ था कि यह देवताओं की लाल पगड़ियों के गिरने का भ्रम पैदा कर रहा था, जबकि वे (देवता) डर के मारे इस भयानक आग से जितनी जल्दी हो सके बचना चाहते थे।"

इन श्लोकों में कल्हण की विदग्धता के प्रचण्ड आग के कई मर्मस्पर्शी शब्दचित्र प्रस्तुत करके अपने कवि होने की धाक बिठा दी है।

शब्दालंकारों पर भी विशेषकर श्लेष और यमक पर कल्हण का समूचा अधिकार इन पंक्तियों से झलकता है--

"गुहोन्मुखी नागमुखापीत भूरि पया रूचिम्।
गौरी यत्र वितस्तात्वं याताप्युज्झति नौचिताम्॥"[34]

"गौरी वितस्ता का रूप धारण करके भी अपनी आन्तरिक विशेषताओं को हाथ से जाने नहीं देती, क्योंकि नदी-रूप में वह गुहाओं के प्रति अभिमुख होती है वैसे ही जैसे गौरी-रूप में कुमार (स्कन्द) के प्रति, नदी के रूप में नाग उसके पर्याप्त पानी का अपने मुखों से जी-भर कर सेवन करते हैं वैसे ही जैसे हाथी के मुख वाला गणेश उसके प्रगल्भ दूध का।"

राजतरंगिणी में उपदेशात्मक तत्त्वों की भी न्यूनता नहीं, वास्तव में कल्हण राजाओं के उत्थान-पतन के व्याज से संसार की नश्वरता और क्षण-भुंगुरता का

मातम हर समय करता रहता है, और यही कारण है कि वह अपने काव्य में शान्त रस को ही प्रधानता देता है--

''क्षण भगिनिजस्तूनां स्फरते परिचिन्तिते।
मूर्धाभिषेकः शान्तस्य रसस्यात्र विर्चायताम् ॥''[35]

''क्षणभंगुर प्राणियों के स्फुरण के विषय में जब परिचर्चा करता हूं, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि रसों में शान्त रस सिरमौर है, अतः इस ग्रन्थ में इसी की प्रधानता है।''

यहां पर कल्हण ने कश्मीरी काव्य-शास्त्र की लीक से हट कर अपनी मौलिक चिन्तन-प्रणाली का प्रमाण दिया है, मम्मट् ने केवल आठ रसों की गणना की है, यद्यपि वह निर्वेद को शान्त रस का स्थायी भाव समझता है, परन्तु उसने इसे उल्लेखनीय मान्यता नहीं दी है।[36] कल्हण की राजतरंगिणी में यद्यपि अनेक रसों का समावेश हुआ है, परन्तु वह स्वयं शान्त रस को सर्वोपरि समझता है, ''वीर'', ''शृंगार'', ''करुण'', ''रौद्र'' तथा वीभत्स'' रसों का परिपाक इस इतिहास ग्रन्थ में प्रचुर मात्रा में हुआ है, फिर भी कल्हण् इन सबको परिणति ''शान्त'' में ही समझता है, क्योंकि यह चित्त के खेद को सहलाने को रामबाण औषधि है। इसलिए उसके इस काव्य में उपदेशात्मक तत्त्व प्रायः मुखर हो उठे हैं:-

''कुलिशं सर्वलोहानामम्भसां शैलसेतवः।
अभेद्याः प्रतिभाव्यन्ते न किंचिदसतां पुनः॥''[37]

''सब प्रकार के लोहों'' के लिए हीरे, जल के लिए पत्थरों के सेतु अभेघ होते हैं, परन्तु दुर्जनों के लिए कुछ भी अभेद्य नहीं।''

इस प्रकार हम पर यह बात साफ हो जाती है कि इतिहास-लेखन के दायित्व ने यद्यपि कल्हण की कवि-कल्पना के पंख काट डाले थे, परन्तु वह अपनी इस अद्भुत मेधा का परिचय पग-पग पर देता है, कि वह इतिहासकार होते हुए भी कवि-कौशल में किसी से कम नहीं। उसका ''कवि'' बीच-बीच में ऐसे उभरता है जैसे काली मेघमाला के बीच सुनहली बिजली कौंध जाती है। वास्तव में कल्हण इतिहास-लेखन और कवि-कौशल के दुहरे दायित्व को एक समान सहृदयता से निभाने का इच्छुक है--

''न पयूर्येत्सर्वसंवेघान्भावनान् प्रतिभया यदि
तदन्यादि्दव्यदृष्टित्वे किमिव ज्ञावकं कवेः॥[38]

''यदि कवि में सर्वसंवेद्य भावों को वाणी देने की प्रतिभा न होती, तो यह कैसे मान लिया जाता कि उन्हें दिव्य-दृष्टि मिली हुई है।''

इतिहास की आत्मा वर्णन शैली होती है, इससे अभिप्राय केवल घटनाओं का अटूट प्रवाह ही नहीं, अपितु इतिहासकार की तटस्थ नीति भी है, पात्रों की वैयक्तिक विचित्रता और इनके निजी गुण-दोष भी इसमें आते हैं, वर्ण्य-विषय की ऐतिहासिकता ही एकमात्र कसौटी है जिस पर इतिहासकार की निपुणता परखी जा सकती है। यद्यपि कल्हण ने स्वयं इतिहास-लेखन का आदर्श हमारे सामने रखे है[39], परन्तु कथनी से करनी का महत्त्व अधिक है, अतः हम देखेंगे कि वह इस आदर्श का किस सीमा तक अनुगामी है।

कल्हण् सुस्सल से जयसिंह तक के राज्य का प्रत्यदर्शी था, उसका पिता हर्ष का महामात्य था, परन्तु वह इस हर्ष को ''तुरूष्क''[40] नाम देने से कतराता नहीं, हर्ष के कुकृत्यों के प्रति कल्हण की असीम घृणा है और वह परवाह नहीं करता कि उस का पिता उसका प्रधानमन्त्री है। जयसिंह के दोषों को प्रकाश में लाने से भी वह नहीं करता क्योंकि सामयिक शासक उसे कड़ा दण्ड भी दे सकता था। दूसरी जयसिंह की पत्नि-भक्ति की भर्त्सना करते हुए कल्हण लिखता है--

''स्थिरप्रसादे भूपाले निग्रहानुग्रहौ क्षणात्।

भूभुजामपि संबृत्ताबविच्छनी तदिच्छया।''[41]

''महाराज के अटल प्रसाद के कारण, राजाओं को सजा देना या उन पर अनुग्रह करना उस (रड्ड़ादेवी, उसकी पत्नी) की इच्छा से तुरन्त और बिना किसी अपवाद के पूरा किया जाता था।'' इस प्रकार हम निस्संकोच कह सकते हैं कि कल्हण् की राज-तरंगिणी प्रशस्तिपत्र नहीं, उसने यथासम्भव ऐतिहासिकता का दामन थामा है और पीतल को सोना कहने की धृष्टता या खुशामद नहीं की है, यही उसकी सबसे प्रमुख उपलब्धि है।

कल्हण् के अनुसार कश्मीर का पहला शासक गोनन्द प्रथम है, जो महाभारत के युधिष्ठिर का समकालीन है। कलियुग के 653वें वर्ष को वह कश्मीर के इतिहास का पहला मील-पत्थर समझता है।[42] यहां वह नीलमतपुराण का आभार साफ शब्दों में स्वीकार करता है[43] परन्तु गोनन्द तृतीय के बाद ही वह प्रत्येक राजा का शासनकाल देता है। इसके लिए वह एक तथ्यपूर्ण कारण यह देता है कि बावन राजाओं का वृत्तान्त वह दे नहीं पाया, क्योंकि उनके सम्बन्ध में कहीं कोई लिखित

प्रमाण मौजूद न थे। फिर भी परम्परा और जनश्रुति के आधार पर वह इनमें से सत्रह का नाम लेता है परन्तु पैंतीस राजा मूल रूप से लुप्त ही माने गए हैं। इन सत्रह में से वह सम्राट अशोक का नाम भी लेता है, जिसने कश्मीर को भी हस्तगत किया था। कल्हण् के वृत्त की पुष्टि शिलालेखों और चीनी पर्यटकों के यात्रा-ग्रन्थों से होती है। इसी महाराज अशोक ने ''श्रीनगरी'' (वर्तमान श्रीनगर की) नींव रखी--

''स पानवत्या गेहानां लक्षर्लक्ष्मीसमुज्जवलैः।

गरीयसीं पुरींश्रीमांश्चक्रे श्रीनगरी नृपः॥''[44]

''उस तेजस्वी लोकाधिप ने बहुत ही प्रतिष्ठित श्रीनगरी का निर्माण किया, जिसमें छियानवे लाख घर धन-धान्य से सम्पन्न थे।''

कश्मीर पर कुशानों द्वारा अधिकार पा लेने के सम्बन्ध में कल्हण् ने विस्तार से वर्णन किया है। कनिष्क, हुष्क और जुष्क के नाम वह बड़े आदर से लेता है।[45] कनिष्क ने बाराह क्षेत्र (बारहमूला) के समीप कनिष्कपुर जिसे आजकल ''कानिसपेर'' कहा जाता है, आबाद किया।[46] इसी तरह हुष्क ने इसी कनिष्कपुर से जरा नीचे वितस्ता के तट पर हुष्कपुर नगर की नींव डाली[47], इसे आजकल ''बुष्कोर'' के नाम से पुकारा जाता है। जुष्क ने डल झील के किनारे नसीम बाग के निकट जुष्कपुर नगर बसाया, यह आजकल ''जुकुर '' नाम से विख्यात है।[48] इसी प्रसंग में कल्हण् बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का भी वृत हमें देता है और कहता है कि वह ''षडर्हतवन'' में वास करता था[49] यह जगह आजकल ''हार्वन'' नाम से प्रसिद्ध है। यहां की टेकड़ियों पर बौद्ध-बिहारों के अवशेष भी मिले हैं। इसी तरह कल्हण् विदेशी नृपों में सफेद हून ''मिहिरकुल'' का भी नाम लेता है और उसे ''त्रिकोटिहन्'' (तीन करोड़ों का घातक)'' जैसी जघन्य उपाधि भी देता है।[50] अप्रतिम अत्याचार करने के बाद इस राजा ने शैवमत ग्रहण किया और फिर पश्चात्ताप के हेतु अपने आपको अग्निसात कर दिया।[51]

देशीय महाराजाओं में कल्हण् निम्नलिखित नृपों का बड़े गर्व से वर्णन करता है--

प्रवरसेन[52] द्वितीय (समय सन् 580 ई०)- यह एक वीर विजेता के रूप में दर्शाया गया है। जब उसे सिंहासन पर आरूढ़ होने के लिए निमन्त्रण दिया गया, उस समय वह त्रिगर्त (कांगड़ा) में युद्ध कर रहा था ताकि उसने अपने पैतृक इलाके को वापिस ले लें जो वहां के राजा ने बलपूर्वक हथिया लिया था। उसी ने कश्मीर

की प्रथम राजधानी ''प्रवरपुर'' की नींव डाली थी। प्रतीत होता है कि यह नगर ''शारिकशैल'' के चारों ओर फैला था, क्योंकि कल्हण की साक्षी के अनुसार यह शारिका पर्वत (हारी पर्वत) नगर के बीच में बड़े माने से सिर उठाये खड़ा था।[53]

ललितादित्यमुक्तापीड़ 2--(सन् 750 ई०), कल्हण ने इस नराधिप का उल्लेख बहुत ही स्याही खर्च करके किया है, इस सम्बन्ध में विदेशी साक्ष्य विशेष कर चीनी और स्मारक-भवनों के अस्तित्व ने कल्हण के वृत्तान्त को आदरणीय प्रामाणिकता दी है। यह राजा योद्धा और विजेता था, इसने यशोवर्मन कन्नौज के अधिपति को परास्त किया[54], तोखारियों (बदखशान) के राजा को भी पराजित किया। वहीं से उसने मेधावी ''चण्कुन'' को लाया और उसे अपना प्रधानमन्त्री नियुक्त किया।[55] इसी तरह उसने अन्तर्वेदी से अभिनवगुप्त के पूर्वज अत्रिगुप्त को कश्मीर में लाकर बसाया।[56] तिब्बत और बल्तिस्तान को भी उसने अपनी छत्रछाया में लिया, बंगाल के राजा को भी उसने अपने अधीन किया[57], अन्त में वह मध्य एशिया में ''बालुकासागर'' पार करते हुए इसी के तूफान में अदृश्य हो गया।[58]

यद्यपि इस युद्धप्रिय नरेश का सारा जीवन संग्रामों में व्यतीत हुआ, फिर भी इसने समय निकालकर बहुत ही भव्य स्मारकों, मन्दिरों तथा नगरों का निर्माण करवाया। सूर्य-मन्दिर मार्तण्ड (आज का मट्टन) उसकी शिल्प-कला से अपूर्व अनुरक्ति का सबल प्रमाण है।[59] परिहासपुर (आधुनिक परसपोर), ललितपुर (आज का ल्यतपोर) तथा लोकपुण्य (आधुनिक लूकबवन) नाम वाले नगरों की नींव भी उसी के सद्प्रयत्नों द्वारा डाली गई।[60] इस महाराज ने गांव की सिंचाई के लिए वितस्ता से पानी खींचने के लिए रहटों का भी आविष्कार करवाया।[61]

अवन्तिवर्मन् का शासनकाल वस्तुत: कश्मीर की सुख-समृद्धि का स्वर्णयुग कहा जाता है। ललितादित्य के निर्बल उत्तराधिकारियों द्वारा देश की दशा बहुत ही दयनीय हो गई थी, अवन्तिवर्मन् ने इस अस्त-व्यस्तता से लोगों को त्राण दिया। इस महाराज ने अवन्तिपुर नाम वाला नगर बसाया[62], वहां पर पत्थर के बने मन्दिरों की स्थापना भी की गई। इस भव्य मन्दिरों के भग्नावशेष आजकल भी हजारों पर्यटकों का मन हरते हैं। इनमें से कई बहुमूल्य वस्तुएं श्रीनगर के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[63] इस नृप के महामात्य ''शूर'' ने भी एक अन्य नगर शूरपुर (आज का हुरपोर) बसाया।[64] उसके राज्यकाल की चिरस्मणीय देन वितस्ता नदी के प्रवाह में गतिशीलता लाना है, जिसको ''सुय्य'' नामक एक इंजीनियर ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से पूरा किया।[65] इस तरह कश्मीर में बाढ़ का प्रकोप सदा के लिए टल गया,

और इस तरह जो धरती पानी के अन्दर से निकल आई उस पर ''सुयय्'' ने अपने नाम से ''सुय्यपुर'' (आज का सोपोर) बसाया।[66] महाराज अवन्तिवर्मन् का देहान्त ज्येष्ठेश्वर तीर्थ पर हुआ, जिसे आजकल ''ज़ीठयार'' कहा जाता है।[67] यह तीर्थ शाही चश्मे के समीप ही स्थित है। उसके दरबार में मुक्ताकण, शिवस्वामी, आनन्दवर्धन और रत्नाकर जैसे महापण्डित और मेधावी रहा करते थे।[68]

उन नारी-शासकों में जिन्होंने कश्मीर के इतिहास को एक स्वास्थ्यवर्धक मोड़ दिया, ''दिद्दा''[69] का नाम बड़े उत्साह से लिया जाता है। क्षेमगुप्त की महारानी होकर भी वास्तव में सारा राजकीय अधिकार उसके हाथों में था। वह लोहार (आज का लोरिन, पुन्छ के समीप) के नरेश सिंहराज की दुहिता थी। अपने पति की मृत्यु के बाद उसने अपने पुत्र अभिमन्यु की संरक्षिका के रूप में राज्य किया, परन्तु उसमें स्वतन्त्र रूप से राज करने की लालसा इतनी बढ़ गई कि उसने अभिमन्यु के काल कवलित होने पर उसके बच्चों को जादू-टोने द्वारा मरवा दिया, और कश्मीर का राज स्वयं सम्भाला। यद्यपि उसने यह राज कुत्सित साधनों से प्राप्त किया था, परन्तु बाद में उसने देश में एक सुदृढ़ शासन की नींव डाली। घूंसखोरी और शोषण का अन्त किया, निर्दयी होते हुए भी उसने समूचे कश्मीर में शान्ति और सुचारू प्रबन्ध-व्यवस्था का सूत्रपात किया।[70] उसकी इच्छा के अनुसार उसके बाद उसका भांजा लोरिन का संग्राम-राज सिंहासन पर बैठा[71], और इस तरह मूल कश्मीरियों के हाथ से कश्मीर का राज्य निकलकर लोरिन के राजकुल के अधीन हो गया। कल्हण ने कश्मीर के अन्तिम नरेश के रूप में जयसिंह का नाम लिया है।[72] उसके राज्य का अधूरा व्योरा देकर ही राजतरंगिणी अकस्मात् समाप्त हो जाती है, सम्भव है कि कल्हण की मृत्यु हो गई हो जिस कारण उसने दिया गया कश्मीर के राजाओं का वृत्त यहीं पर रूक गया। कुल मिलाकर कल्हण ने गोनन्द प्रथम से जयसिंह तक 109 राजाओं का वर्णन किया है, जिनका शासनकाल 1182 पूर्वमसीह से सन् 1149 ई० तक फैला हुआ है। उससे प्रयुक्त श्लोकों की संख्या 7126 है, और ये आठ तरंगों में विभाजित हैं।

कश्मीर के विभिन्न तीर्थों तथा स्थानों का वर्णन कल्हण् बहुत ही प्रामाणिकता से देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे कश्मीर के भूगोल का पर्याप्त परिचय था। इन स्थानों के वर्णन की प्रामाणिकता कई सहस्त्र वर्ष बीतने के बाद भी आजकल सिद्ध होती है। यहां की धरती की पावनता के सम्बन्ध में उसका यह प्रवचन शतश: यथार्थ है--

''चक्रभृद्विजयेशादि केशवेशान भूषिते।

तिलांशोपि न यत्रास्ति पृथव्यास्तीर्थे बहिष्कृत:॥[73]

"(जहां मेरी जन्मभूमि में विष्णु और शिव चक्रभृत तथा ईशान नामादि से विभूषित हैं, वहां धरती का एक तिलांश भी तीर्थों की पवित्रता से पृथक नहीं।"

आज तक भी इस भूखण्ड पर हजारों मन्दिर, नाग तथा तीर्थ बिखरे पड़े हैं, यहां का प्रत्येक प्रस्तरखण्ड देवमहिमा से मण्डित है।

नगरों, उपनगरों तथा ग्रामों के नामों के अन्त में नगर, पुर, भोग, धाम तथा ग्राम सायुज रूप में जोड़े गए हैं। संस्कृत के इन शब्दों का कश्मीरी उच्चारण नग्र पोर, बुग, होम तथा गाम क्रम से बन जाता है। अतएव सिरीनग्र (श्रीनगर), (ल्यतपोर) (ललितपुर), (शालगुब शालिभोग), (दन्यहोम धान्यधाम), तथा (चण्डीगाम) (चण्डीग्राम) इत्यादि नाम इस दिशा में हमारा मार्ग निर्देश करते हैं। वितस्ता के प्रवाह के विषय में जिस यथार्थता का प्रमाण कल्हण् ने दिया है वह अद्वितीय है।

यद्यपि कश्मीर-घाटी पर्वतमालाओं की गोद में आसीन है, फिर भी कल्हण ने इनमें बने "द्वारों"-प्रवेश-मार्गो का विशद वर्णन किया है। आक्रमण रोकने अथवा व्यापार करने तथा और लोगों की आवाजाही के लिए प्रयोग में लाए जाते थे, अत: हर एक "द्वार" पर सेना एक "द्वारपति" के अधीन वहां पर चौकसी के लिए नियत थी।

पीरपंचाल पर्वत शृंखला के पूर्व की तरफ "बाणशाला" का उल्लेख किया गया है।[74] यह आजकल का "बानिहाल" है, कश्मीर घाटी का प्रवेश-द्वार। यहां पर स्पष्ट कारणों से उस समय एक सैनिक-गढ़ी निर्मित की गई थी। शुपियां के आगे हुरपोर में अवन्तिवर्मन के मन्त्री शूर ने एक नगरी बसाई थी, यह भी कश्मीर में प्रविष्ट होने का एक द्वार था। यहां भी सेना तैनात थी।[75] क्षेमेन्द्र ने इसे "नमक-पथ" कहा है, क्योंकि इसी रास्ते में यहां नमक आयात किया जाता था।[76] इसी तरह "लोरिन" और "पुन्छ" से आने-जाने के निमित्त "कारकोट-द्रंग" से काम लिया जाता था।[77] यह रास्ता "तोषमैदान" से होकर जाता था। इसे "मुगल रोड" भी कहा जाता है। कल्हण् ने "द्रंग" और "द्वार" को समानार्थक समझा है, सम्भवत: पुरानी कश्मीरी में "द्रंग" का यही अर्थ रहा हो।[78] पर्वतों के दामन में बसे हुए ग्रामों को आज भी यहां द्रंग कहा जाता है।

कल्हण् द्वारा वर्णित उस समय के कश्मीर की सीमाओं का विवरण देना भी उचित होगा। वस्तुत: उस भूखण्ड की पूरी तरह जानकारी हमें इस तरह मिल सकती है, जब हम इसके चारों और स्वतन्त्र रजवाड़ों के सम्बन्ध में भी उल्लेख

करें। घाटी के दक्षिण-पूर्व में "काष्टवाट" आज का किश्तवाड़ और भद्रवाकाश (भद्रवाह) स्थित थे। यहां स्थानीय हिन्दू राजाओं का राज था।[79] चम्पा (चंबा) के पश्चिम में, तथा भद्रवाह के दक्षिण में बल्लपुर नाम वाला नगर आबाद था। यह भी स्वतन्त्र राजाओं के अधीन था।[80] इसे आजकल बिलावर कहते हैं। कश्मीर के पश्चिम में "दर्वाभिसार" की पहाड़ी राजधानियां थी[81], वास्तव में यह दर्व तथा अभिसार संयुक्त रूप है, जिसका उल्लेख महाभारत में भी किया गया । इस भूखण्ड का प्रधान नगर राजापुरी (राजौरी) था। युद्ध-नीति की दृष्टि से कश्मीर के राजाओं ने इसे अपने अधिकार में लाने की हर समय कोशिश की है।[82] राजपुरी के उत्तर-पश्चिम में लौहार प्रदेश (लोरिन) स्थित है। इस समय यह पुंछ के अन्तर्गत रखा गया है, जबकि तब पुन्छ (पुरन्तोष) इसी में शामिल था। पुन्छ के उत्तर-पश्चिम में कश्मीर की घाटी विद्यमान थी, वितस्ता इसके बीचोबीच बहती थी, जैसा अब भी है। पश्चिम से जरा दूर उर्श हजारा का राज्य था, जिस पर कश्मीर नरेशों ने बार-बार चढ़ाई की।[83] यह 'कृष्ण गंगा' घाटी भी कहलाती है। अब इस पर पाकिस्तान का अनधिकृत कब्जा है। इसी में प्राचीन कश्मीर का महातीर्थ "शारदा" विद्यमान था। उत्तर की ओर भोटिया-प्रदेश था, जो स्वतन्त्र था।[84] संक्षेप में कश्मीर के राजाओं के अधीन भूभाग का ब्यौरा इसी प्रकार का है, यही प्राचीन कश्मीर का भौगोलिक-राजनीतिक स्थान वर्णन है।

यद्यपि कल्हण् ने केवल राजाओं का वृत्त दिया है, जो उसका न्याय-संगत दायित्व था, फिर भी इन राजाओं के उदय-अस्त ने इसे अपनी जनता के आचार-विचार का अध्ययन करने के लिए यथेष्ट सामग्री जुटा दी है। सर्वप्रथम कश्मीरियों की प्रमुख विशेषता उनकी धार्मिक सहिष्णुता है। राजतरंगिणी में स्थल-स्थल पर इस जीवन-विश्वास के ज्वलन्त प्रमाण मिलते हैं। बौद्धबिहार, शैव और वैष्णव मन्दिरों के साथ-साथ निर्मित किए गए, परिहासपुर में विजेता योधा नरेश ललितादित्य ने भगवान बुद्ध की पावन--स्मृति में एक गगन-चुम्बी स्तम्भ का निर्माण करवाया, जबकि वह स्वयं वैष्णव था।[85] महाराज अवन्तिवर्मन ने विष्णु-मन्दिरों की स्थापना की, जबकि उसके मन्त्री ने शिव-मन्दिरों की, इस विरोधाभास ने उनके निजी सम्बन्धों में कोई विकार पैदा नहीं किया।[86] कश्मीर के राजाओं ने विदेशी मन्त्रियों, जो स्पष्टत: अन्य धर्मावलम्बी थे नियुक्त करने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई। ललितादित्य का मन्त्री चंकुन तुरूक था।[87] कश्मीरियों में धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण बहुत प्राचीन समय से विद्यमान था। प्राचीन कश्मीर में किसी एक भी साम्प्रदायिक दंगे का वर्णन कल्हण ने नहीं किया है।

कल्हण् के अनुसार कश्मीरी जनता भाग्यवादी है, वह अपने दुःख-सुख को ईश्वरेच्छा मानती है, यद्यपि इस विशेषता ने उनके समारम्भ को शैथिल्य प्रदान किया, परन्तु आकस्मिक राज्य-परिवर्तनों के प्रति उन्हें मन का स्वस्थ सन्तुलन भी वरदान रूप में मिला, वे घबराये नहीं, हड़बड़ाये नहीं--

''अचिन्तयञ्च संभ्रान्तः कथमेतदूभ विष्यति।

उवाच च विधेः शक्तिमचिन्तयां कलयंश्विरम्॥''[८८]

''वह (गुरु ईशान) विस्मित हुआ और सोचने लगा

कि ऐसा क्योंकर होगा। फिर बहुत देर विचार करके बोला, भाग्य की शक्ति अचिन्त्य है।'' स्वयं कल्हण भी भाग्य को ही सब आश्चर्यों की निधि समझता है--

सर्वाश्चर्यनिधिः विधिः।[८९]

इसी भाग्यवादी जीवन-दर्शन की पुष्टि में कल्हण यह कहता है--

लक्ष्मी तडिल्लता कीर्तिबलाका शौर्यगर्जितम्।

प्रतापशक्रचापं च भाग्यधेयाम्बुदानुगम्॥[९०]

''धन-सम्पदा रूपी तडिल्लता, बलाका रूपी कीर्ति, गर्जना रूपी शौर्य और प्रताप रूपी इन्द्रधनुष भाग्य रूपी बादल के पीछे-पीछे आते हैं।''

इसी आस्था के फलस्वरूप कश्मीरी दैवी-न्याय में भी विश्वास करते हैं, बुरे कर्मों का फल कभी भी अच्छा नहीं हो सकता, इनका दण्ड मानव को देर-सवेर अवश्य मिलेगा, अच्छे कर्मों का पुरस्कार भी उसे नितान्त प्राप्त होगा--

''प्रजाभिशापे पतिते नृपस्योन्मार्गविर्तिनः।

त्रिशद्विशांः सुतास्तस्य व्यपद्यन्तामयं बिना॥[९१]

''(प्रजा पर अत्याचार करने के फलस्वरूप) उनसे शाप दिए जाने पर, राजा (शंकरवर्मन्) के जो उल्टे रास्ते पर चल रहा था, बीस अथवा तीस पुत्र (अकस्मात्) बिना किसी प्रत्यक्ष बीमारी के चल बसे।''

अत्याचारी नृपों के प्रति असहाय होकर प्रजा केवल दैवी कोप का आवाहन कर सकती थी, उन्हें यह देखकर तोष भी हुआ कि ऐसे स्वेच्छाचारियों का कुल,

जीवन, नाम और महिमा नष्ट हो गये। वास्तव में कल्हण् ने किसी भी जन-विद्रोह का उल्लेख भी नहीं किया है, निरीह जनता केवल अपने भाग्य के भरोसे जीती थी, और अपने उद्धार के लिए भगवान की ओर देखती थी।

निरकुंश अत्याचार के तले दबे जाते लोगों की इसी कारण राजाओं के उत्थान-पतन के प्रति कोई भी दिलचस्पी नहीं थी, वे अपने आपको अस्पृश्य-से समझ रहे थे, अत: कल्हण् यह वर्णन देता है--

लोको विरक्त: सेत्वग्रे दायादै: सह संगरम्।

दर्दशाश्वयुजीलागमिव निर्विक्रय: प्रभो:॥[92]

''लोग विरक्त-भाव से, पुल के सामने अपने शत्रुओं से लड़ते राजा को बिना किसी मानसिक प्रतिक्रिया के इस तरह देखने लगे, जैसे यह आश्विन की प्रथम तिथि पर घोड़ों की नुमायश हो।''

इसी उदासीन-भावना ने उनमें प्रतिरक्षा के प्रति भी विरक्ति-सी पैदा की, अत: वे शस्त्रप्रिय न होकर शान्तिप्रिय अधिक थे, इसी कारण कश्मीरी सेना में विदेशी-भरती अधिक जोरों पर थी, लगातार युद्धों की विभीषका से लोग त्रस्त थे, अत: जब कोई सेना उन्हें अधिकार में लेने के लिए दृष्टि गोचर होती, तो वे विषादग्रस्त होकर हाथ पर हाथ धरे रहते, प्रतिकार करने का कभी नहीं सोचते--

अकाण्डाम्बुदजाड्येन पीडितांगिवाभजत्।

परचक्रोदयेनाश्रुलोक: शिथिलशक्तिताम्॥[93]

''शत्रु की सेना को आते देखकर आंसू भरे लोगों के शरीर पीड़ित हो जाते, वे भाग जाते और उनकी शक्ति जबाव दे देती, जैसे अकस्मात् कोई बादल फट गया हो।''

इतना होते हुए भी उनकी दानशीलता विख्यात थी, मुहताजों, अकिंचनों तथा दलितों की सार्थक सेवा करना वे परम धर्म समझते थे, यहां तक कि कल्हण यह भी कहता है कि धोखे से कमाया धन यदि दान में, किसी को सहायता-रूप दिया जाए, तो वह भी पुण्य-कर्म बन जाता है।[94] अपने देश-वासियों के प्रति कल्हण की यह श्लाघा आज भी उतनी ही सत्य है, जितनी उस समय थी--

विजीयते पुण्यबलेबलेयन्तु न शास्त्रिणाम्।

परलोकात्ततो भीर्तियस्मिन्निवसतां परम्॥[95]

''इस बस्ती के लोग पुण्य-बल से, न कि शस्त्रों के बल से जीते जा सकते हैं, इसीलिए इन्हें (इहलोक की अपेक्षा) परलोक का बड़ा डर है।''

परलोक के इसी भय ने उनके व्यक्तित्व में सदाचार, शान्तिप्रियता, दानशीलता तथा भाग्यवाद का मधुर मिश्रण पैदा किया है, इस प्रांजल गुण की महक अभी भी बासी नहीं हो पाई है।

----

1. डा० बूहलर-कश्मीर रिपोर्ट, 2. संस्कृत साहित्य का इतिहास, 3. जोनराज कृत राजतरंगिणी-श्लोक 4. श्रीवर कृत जैन राजतरंगिणी। 1, 1, 7, 4. 5. देखिये आगे ''अमर गायक बिल्हण'', 6. ''काव्यप्रकाशकार, 7. वही, 8. ''काव्यालंकार''कारा। 9. सर्ग 25, 78-80, 10. राजतरंगिणी-श्लोक 5, 11. क्लासिकल संस्कृत साहित्य का इतिहास, 12. रा० त० 1, 32, 1/111, 3404, 13. वही 11, 954, 14. वही 1/111, 7. वही 1/, 1179, 15. वही 1/111, 2365. 16. रा० त० 1,8, 17. वही 1,10, 18. वही 1, 11-15, 4. वही 1, 7. 19. रा०त० 1/111, 378, 11, 935-937, 20. डा० बूहलर-कश्मीर रिपोर्ट, 21. वही, 21-22. एशियाटिक रिसर्चस द्वारा सन् 1835 ई० में प्रकाशित, 23. रा० त० की भूमिका पृ० 45. 24. रा० त० की भूमिका पृ० 50, 24-a. एशियाटिक रिसर्चस--1/25. रा० त० भूमिका (स्टीनकृत), 26. हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 27. रा० त० 1/4, 28. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास। 31. रा०त० 111, 979-981, 32. वही 1, 19. 33. वही, 23 34., 35. काव्यप्रकाश--चतुर्थ उल्लास, 36. रा० त० 1/1, 273, 37. वही 1,6, 38. रा० त० 1, 7. 39. रा० त० 1/11, 1095, 40. वही 1/111, 3393, 41. वही 1. 56-57, 42. वही। 16, 43. वही 1, 104. 44. रा० त० 1, 186, 45. वही, 1/259, 46. वहीं 1, 169-172, 47. वहीं/ 259, 48. वहीं 1, 173, 49. वहीं 1, 310-322, 50. वहीं 1, 51. वहीं 111, 285 52. वही 111, 361. 53. रा० त० 11/, 134, 54. वहीं 11/, ,215, 55-56. तन्त्रालोक, 37, 57. वहीं 11/, 148 58. वही 11/, 169, 59. वहीं 11/, 192, 60. वहीं। 194, 186, 61. वही 11/, 191, 62. वहीं, 44, 63. R.C. Kak, Ancient Monuments of Kashmir, *64. रा० त० , 118, 65. वहीं, 83, 66. वहीं, 118, 67. वहीं, 123, 68. रा० त०, 126, 69. वही 1/1, 176, 70. वही 1/1, 323, 71. वही 1, 355, 365, 72. वहीं 1/111, 1349, 73. वही 1, 38, 74. रा० त० 1/111, 1665, 75. वही, 1/,39, 76. समयमात्रिका 11, 90, 77. रा० त० 11,140, 78. वहीं 1/111, 1596, 79. वहीं 1/111, 501, 509, 80. वही 11/1, 220. 81. रा० त० 1, 138, 180, 82. वही 1/11, 339, 973, 83. वही, 11/, 217, 84. वही 1, 312, 1/11, 911, 85. वही 11/,1, 203, 86. वही, 48-49, 87. वही 11/1, 211. 88. रा० त० 11, 92, 89. वही 11, 94, 90. वही 11, 1455, 91. वही , 1/,211. 92. रा० त०1 /11, 84, 93. वही 1 /111, 2262, 94. वही 1 /11, 1551, 95. वही 1, 39. 96. विक्रमांकदेवचरितम्. 1/111, 6, 2. रा० ता०, भूमिका अंग्रेजी, 3. 1/11,935-937.*

गीतकार बिल्हण

इससे पूर्व कि कवि विल्हण् का परिचय दिया जाये, यही संगत जान पड़ता है कि हम कश्मीर में संस्कृत का निश्चित स्थान निर्धारित करें। इस शारदा-देश में संस्कृत के माध्यम से इतना महत्त्वपूर्ण काम हुआ है कि यह मानना कठिन बन जाता है कि संस्कृत केवल पढ़े-लिखे कश्मीरियों की पुस्तक-भाषा थी, स्थायी साहित्य के सृजन की वाहन थी, इस विषय के प्रसंग में बिल्हण की यह साक्षी झुठलायी नहीं जा सकती--

यत्र स्त्रीणामपि किमपरं जन्मभाषावदेव।

प्रत्यावासं विलसति वच: संस्कृतं प्राकृतं च[1]

''जहां (जिस कश्मीर में) स्त्रियां भी दूसरी जन्मभाषा (कश्मीरी) की तरह अपने घर-गृहस्थी में संस्कृत और प्राकृत बोला करती हैं।''

इस प्रवचन की पुष्टि हमें मुसलमानों की कब्रों पर संस्कृत-अभिलेखों से प्राप्त होती है। डा० स्टीन ने इस दिशा में महत्त्पूर्ण खोज की है और उनका कथन है ''तिथियों के बिना कब्रों पर संस्कृत में संक्षिप्त अभिलेख मैंने स्वयं श्रीनगर, मार्तण्ड और अन्य स्थानों पर देखे हैं।''[2] बहाउदी के साहिब हारी पर्वत के समीप की जियारत में कई कब्रों पर संस्कृत में लिखे अभिलेख अभी भी मौजूद हैं। यह समय सन् 1484 ई० है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कश्मीर में सुल्तानी मुस्लिम शासन के समय में भी संस्कृत का ज्ञान साधारण जनता को था, यहां तक कि मुसलमान भी इसका प्रयोग करते थे, अत: यह स्वीकार करना होगा कि संस्कृत सामान्य बोलचाल की भाषा अवश्य थी, इसको समझना कश्मीरियों के लिए उतना कठिन नहीं था, क्योंकि उनकी जन्म-भाषा कश्मीरी में 80 प्रतिशत शब्द संस्कृत से ही लिए गए हैं।

संस्कृत भाषा के इसी अप्रतिम उद्धार की परिणति बिल्हण द्वारा सम्पन्न हुई, उनके सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेख हमें कल्हण्-कृत राजतरंगिणी से प्राप्त होता है-

''कश्मीरेभ्यो विनियन्तिं राज्ये कलश भूपते:।

विद्यापति यं कर्णाटश्चक्रे पर्माडिभूपति:॥

प्रसर्पत: करिटिभि: कर्णाटककान्तरे।

राज्ञोग्रेददृशे तुंग यस्यैवातपवारणम्॥

स्थागिनं हर्षदेव स श्रुत्वा सुकविबान्धवम्।

बिल्हणो वंचनां मैंने विभूति तावतीमपि॥''[3]

''बिल्हण जो महाराज कलश के राज्य में कश्मीर से चला गया था, उसे पर्माड़ि कर्णाटभूपति ने ''विद्यापति'' पद से विभूषित किया। (यह राजा उसका इतना मान करता था) कि जब वे कर्णाट के घने जंगलों में हाथियों पर सवार होकर चलते थे, तो उसका ऊंचा राजसी छत्र राजा के आगे-आगे धारण किया जाता, (परन्तु) कश्मीर-नरेश दानवीर हर्ष की सच्चे-अच्छे कवियों के प्रति सद्भावना का सुन कर उसने (कर्णाट में) इतने आदर को केवल छलावा समझा।''

उससे रचित कुछ पद्य मम्मट् ने अपने ''काव्य-प्रकाश'' तथा कातन्त्र की ''बालबोधिनी वृत्ति'' में भी मिलते हैं। अनुक्रमणिकों में उससे प्रणीत कुछ ऐसे श्लोक भी मिलते हैं, जो उसकी रचनाओं में इस समय प्राप्य नहीं, अत: यह सिद्ध हो जाता है कि देश छोड़ कर विदेश जाने पर भी उनके काव्य की लोकप्रियता में यहां कोई अन्तर नहीं आया।

''कश्मीर के कवियों के चूड़ामणि''[4] बिल्हण् को प्रकाश में लाने का श्रेय डा० बूहलर को है, विधि की बिडम्बना से यह भी कश्मीर से बाहर । सन् 1877 ई० में संस्कृत पाण्डुलिपियों की खोज के अनन्तर उन्हें जैसलमेर (राजस्थान) में नारियल के पत्तों पर अंकित ''विक्रमांकदेवचरित्'' की एक प्रति मिली, इससे पूर्व राजतरंगिणी के कलकत्ता संस्करण में बिल्हण् के स्थान पर रिल्हण् नाम दिया गया था। मेधावी डा० महोदय ने बिना किसी संकोच के इस रिल्हण् को बिल्हण् ही समझा, और तत्पश्चात् अनुसन्धान ने उनके इस अनुमान की शतश: पुष्टि की। शारदा लिपि में ''र'' और ''ब'' के साम्य-आकार के कारण कोई विरला संस्कृतज्ञ

ही उचित वर्ण का चयन कर सकता है, इसीलिए कश्मीरी में एक कहावत है कि "स" और "म" को जानना ही संस्कृत को जानकारी का लक्षण है, परन्तु लिपिकार उतने पढ़े- लिखे न होने के कारण यह भ्रम पैदा हुआ। आगे चलकर डा० स्टीन ने स्वसम्पादित राजतरंगिणी के संस्करण में बिल्हण्, शुद्ध नाम ही दिया है।[5]

जैसा कि इस नाम से स्पष्ट है यह संस्कृत- मूलक नहीं, जन- भाषा में इसका कुछ न कुछ अर्थ अवश्य रहा होगा। कश्मीरियों ने अपने नामों के प्रति प्रायः देशीय-मूलक होने का मोह दिखाया है। इस दिशा में सैंकड़ों ऐसे नाम गिनाये जा सकते हैं।

बिल्हण् जागरूक कलाकार होने के कारण हमें अपने सम्बन्ध में यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत करता है।[6] "वह घास के ढेर की ओट में रहना नहीं चाहता", वह अपने जन्मस्थान का इस प्रकार उल्लेख करता है--

तस्मादस्ति प्रवरपुरतः सधिगब्यूतिमात्रां ।

भूमिंत्यक्त्वा जयवनमिति स्थानमुत्तुंग चैत्यम्॥

कुण्ड यस्मिनमलसीलिलं तक्षकस्याभिहर्तु।

धर्मध्वंसीघत कलिशिरच्छेद चक्रत्वमेति॥

यस्यास्ति खोनमुखइत्युपकण्ठसीम्नि।

ग्रामः समग्रगुणसंपदवाप्त कीर्तिः॥[7]

"श्रीनगर से ढाई कोस की दूरी पर एक ऊंची टेकड़ी "जयवन'+' नाम वाली है, उसमें निर्मल पानी का एक (गोलाकार) कुण्ड है, जिसका अधिपति सर्पराज तक्षक है, (यह कुण्ड) निसन्देह धर्मध्वंस में उद्यत कलियुग का सिर काटने का चक्र है, इसी की समीप "खोनमुख" नाम वाला गांव है जो सब गुणों और धन- धान्य से सम्पन्न होने का यश पाता रहा है।"

"खोनमुख" गांव की भौगोलिक स्थिति बराबर वैसी है, जिसका वर्णन बिल्हण ने आठ सौ वर्ष पूर्व किया है। श्रीनगर से दूरी भी वैसी की वैसी है, कई संस्करणों में "खोनमुख" के स्थान पर "खोनमुष" भी दिया गया है। इस गांव का कश्मीरी नाम "खोनमुह" है। उच्चारण-भेद के कारण संस्कृत शब्दों की अन्त

''ष'' ध्वनि कश्मीरी में ''ह'' का रूप ले लेती है, जैसे ''पोष''--''पोह'' (कश्मीरी), हिन्दी में भी संस्कृत की अन्तिम ''ख'' ध्वनि ''ह'' में कभी-कभी परिवर्तित होती है जैसे मुख--''मुंह'' हिन्दी इस गांव को (खोनमुख) अथवा खोनमुष कहा गया हो, परन्तु दोनों हालतों में इसका कश्मीरी रूप खोनमुह'' ही हो जायेगा, जैसे ऊपर कहा गया है, शारदा लिपि बहुत जटिल है, इस में वर्ण-साम्य (आकार में) गड़बड़ पैदा करता है । जो व्यक्ति संस्कृत का निष्णात पण्डित हो वहीं इसे शुद्ध रूप में पढ़-लिख सकेगा। कश्मीर के प्रायः सभी संस्कृत ग्रन्थ इसी लिपि में अंकित हैं, देवनागरी का चलन यहां डोगरा राज्य में हुआ, जब महाराजा रणवीरसिंह ने धर्मार्थ और रिसर्च विभाग की स्थापना की, तब संस्कृत ग्रन्थों का मुद्रण तथा प्रकाशन हाथ में लिया गया, और देवनागरी की सार्वभौमिकता के कारण ये ग्रन्थ शारदा से उसी में रूपान्तरित किये जाने लगे।[8]

खोनमुख ग्राम जम्मू-कश्मीर राजमार्ग की बायीं ओर ''पान्द्रेठन'' (पूर्णाधिष्ठान) के आगे कुछ दूरी पर बसा हुआ है। यह सुप्त-ज्वालामुखी पर्वतमाला बराबर यहां से ''ख्रीव'' तक फैली हुई है, यहां ज्वाला जी का तीर्थ भी है। इसी शृंखला में ''जयवन'' (आज का ज्यवन) तथा ''वूयन'' भी बसे हुए हैं। जिस तक्षक नाग की ओर कल्हण ने ऊपर के श्लोक में इशारा किया है, उसका समय ने भारी परिवर्तन किया है, यह अब गोलाकार नहीं, अपितु वर्तुलाकार है और इसके समीप ही एक मस्जिद का निर्माण किया गया है। परन्तु अंगूर की बेलें उसी मदमाती चाल से झूमती हैं, जिसका विशद वर्णन बिल्हण ने दिया है। केवल वितस्ता इससे मील पौन मील दायी ओर सरक गई है। नदियों का स्वभाव अपने प्रवाह-मार्ग को बदलना तो चिर-विख्यात है। अतः यह एक भौगोलिक सत्य ही कहलायेगा।

इसी गांव में अंगूरों की रस-भरी छाया में बिल्हण का बचपन गुजरा। उसके पिता का नाम ज्येष्ठकलश और माता का नागदेवी था। ज्येष्ठकलश ने पातंजलि के महाभाष्य पर एक कृत्ति लिखी थी। पिता से ही बिल्हण को संस्कृत-प्रेम कुलक्रमागतरूप में मिला था, जिसका ऋण वह अपने ऊपर मानता है।[9]

उसके जन्म और मरण विषयक निश्चित तिथियां देने में हम विवश हैं, यद्यपि उसने अपने विषय में विस्तार से वृत्त दिया है, परन्तु तिथियों के प्रति वह मौन है। अतः उन वर्षों को हम मोटे तौर से निर्धारित कर सकते हैं, जिनके अन्दर वे जीवित थे। यह तो उसके समकालीन अथवा परवर्ती साहित्यकारों की रचनाओं से

निश्चित कर सकते हैं, जिनमें उसके विषय में उल्लेख है। सौभाग्य से कल्हण् ने हमें वह वर्ष बता दिया है, जिसमें बिल्हण् कश्मीर छोड़ कर कर्णाट चला गया, वह महाराज कलश के शासन-काल में यहां से मध्यभारत के प्रवास पर चले गए।[10] महाराज कलश महाराज अनन्त के पुत्र थे। महाराज अनन्त का राज्यकाल सप्तर्षि संवत् 4 चार से आरम्भ होता है और 39 उनतालीस तक चालू रहा। यह ईस्वी सन् 1029 से 1064 तक बनता है। अपने शासन के अन्तिम दिनों में महाराज अनन्त ने कलश का स्वयं राज्याभिषेक करवाया, और उसे राज्य सौंपा। यह सप्तर्षि 41 इकतालीस (ई० सन् 1066) था, सम्भवत: बिल्हण् इसी समय कश्मीर छोड़कर चला गया हो। कल्हण् कर्णाट के परमाड़ि द्वारा बिल्हण से प्राप्त संरक्षण के सम्बन्ध में भी हमें सूचना देता है। जिस परमाड़ि विक्रम का उल्लेख इस सन्दर्भ में किया गया है, वे क़ल्याण के चालुक्य महाराज विक्रमादित्य चतुर्थ माने गये हैं। इस नरेश का शासन-काल सन् 1076 ई० से सन् 1127 ई० तक निश्चित किया गया है।[11] अत: हम कह सकते हैं कि बिल्हण् विक्रमादित्य, चतुर्थ के सिंहासनारूढ़ होने से दस वर्ष पूर्व ही कल्याण पहुंच चुके थे। इन दशाब्दी में बिल्हण् की कवि-प्रतिष्ठा पूरी तरह जम चुकी थी, तभी तो महाराज ने इसे सिंहासन पाते ही कवि-शिरोमणि ''विद्यापति'' की उपाधि प्रदान की। अत: इस तरह यह निष्कर्ष निकालना सहज बन जाता है कि बिल्हण् ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम दो चरणों में अवश्य जीवित था, परन्तु सन् 1088 ई० के बाद उसका जीवित होना संदिग्ध बन जाता है, क्योंकि अपने संरक्षक विक्रमादित्य चतुर्थ के बहुत बड़े सैनिक-प्रयाण का जो इसी समय हुआ, बिल्हण ने कोई उल्लेख नहीं किया है।[12] यदि बिल्हण् जीवित होता तो वह अवश्य इसका वर्णन करता, जब कि उसने इससे बहुत छोटे सैनिक-प्रयाणों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। अत: हम कह सकते हैं कि बिल्हण् सन् 1066 ई० से सन् 1088 ई० तक कश्मीर से बाहर रहा, परन्तु यह निर्णय भी अन्तिम नहीं समझा जा सकता क्योंकि--

1. सम्भव है कि वह कलश के शासनकाल के प्रथम वर्ष में बाहर न चला गया हो, जैसी धारणा हमने ऊपर बनाई है। कल्हण् स्पष्ट रूप से कहता है कि वह कलश के राज्यकाल में कश्मीर छोड़कर चला गया, यह प्रथम वर्ष न होकर कोई और वर्ष भी हो सकता है।

2. यह अनुमान भी संगत लगता है कि सन् 1088 ई० के बाद महाराज विक्रम और उसमें मनोमालिन्य पैदा हुआ हो, और उसे राज्य-संरक्षण से हाथ धोना

पड़ा, इसी अप्रत्याशित रोष के कारण उसने महाराज विक्रम के सैनिक महाअभियान को उपेक्षित रखा। महाराजाओं का चिर-स्वभाव ऐसा ही रहा है, वे जिसको मान-प्रतिष्ठा देते हैं, उसे बाद में अपमानित भी करते हैं, शंकाशील प्रकृति महाराजाओं के लहू में मिली होती है।

3. हमें यह भी निश्चित करना होगा कि बिल्हण् की आयु क्या रही होगी, जब उसने स्वदेश को तिलांजलि दी। उस समय के यातायात के साधनों तथा रास्ते में सुरक्षा के प्रबन्ध को देखकर यह अनुमान लगाना ठीक मालूम होता है कि यह पूरा वयस्क होकर ही इस कठिन यात्रा का साहस कर सका, और उसकी आयु इन्हीं कारणों से पच्चीस वर्ष से कम किसी भी हालत में न रही होगी, इससे अधिक होने की ही सम्भावना अधिक है। अतः हम कह सकते हैं कि बिल्हण् का जन्म सन् 1041 में हुआ होगा, सन् 1088 ई० तक उसके जीवित होने का प्रमाण हमारे पास है। इस तरह उसकी आयु मात्र 48 वर्ष बन जाती है। यह आयु मन में नहीं बैठती, क्योंकि जो ख्याति उसे प्राप्त हुई वह इस अल्पावधि में पानी उस समय में कठिन आवाजाही के साधनों को देखकर कमानी सम्भव न थी, और तो और, उस समय आयु का स्तर अपेक्षाकृत अधिक था, इसलिए हम बिना अपवाद के यह कह सकते हैं कि वह सन् 1088 ई० के बाद भी जीवित रहा होगा, उसकी मृत्यु के सम्बन्ध में अधिकृत रूप से कुछ कहना इसीलिए कठिन बन जाता है। परम्परा के अनुसार बिल्हण् को तीन ग्रन्थों का प्रणेता माना जाता है, ये हैं "विक्रमांकदेवचरित्"[13]--एक ऐतिहासिक काव्य, "चौर-पन्चा-शिका"[14] पचास पद्यों का एक मार्मिक गीत, और एक नाटिका "कर्णसुन्दरी"।[15] "बिल्हण्चरित"[16] नाम वाली एक अन्य पुस्तक उसी की कृति मानी जाती है, परन्तु इसमें कहीं भी उसका नाम नहीं आता, सम्भवतः यह चरित उसके किसी प्रशंसक द्वारा लिखा गया हो, जिसने अपना नाम गुप्त रख कर इसे बिल्हण् के नाम से सम्बद्ध किया हो। "विक्रमांक देवचरित" में दी गई तिथियां इस चरित में दी गई घटनाओं से मेल नहीं खातीं।[17]

इन तीनों कृतियों में "विक्रमांकदेवचरित" का भाव और कला की दृष्टि से बहुत ऊंचा स्थान है। बिल्हण् की परिपक्व कवि-प्रतिभा का इसके पठन से पूरा पता लगता है। निश्चय ही यह काव्य सन् 1068 ई० से पहले लिखा गया होगा, क्योंकि इसमें विक्रमादित्य चतुर्थ के सैनिक महा-अभिमान का उल्लेख नहीं है, जिसकी ओर ऊपर संकेत दिया गया है। इस काव्य में अठारह सर्ग हैं, और अन्तिम सर्ग तो बिल्हण् का आत्मचरित है। मोटे तौर पर कुल श्लोक संख्या 2500 है। इस

रचना में इतिहास और शृंगार का मधुर समन्वय हो पाया है, अपने संरक्षक विक्रम का शौर्य, दानवीरता, ललित-कलाओं के प्रति प्रेम बहुत ही अपूर्व कल्पना से व्यक्त किया गया है। इस रचना में विक्रम के इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व में रंगों की बहार संजोई गई है, इसके अतिरिक्त प्रकृति-वर्णन तथा बारहमासा और ऋतुवर्णन बहुत ही प्रभावोत्पादक विस्तार से ग्रन्थ में यथास्थान सजाये गये हैं। यद्यपि इतिहास लिपिबद्ध करने की लालसा ने उसके कवि-कौशल को जरा कुण्ठित भी किया है, परन्तु इस विवशता से ऊपर उठ कर कवि की कल्पना शब्द और अर्थ का मार्मिक प्रकाशन करने में पीछे नहीं रहती--

लग्नद्विरेफ ध्वनिपूर्यमाणं बासन्तिकाया: कुसमं नवीनम्।

आसादयामास वसन्तमासं जन्मोत्सवे मंगलशंख लीलाम्॥[18]

"मधुसंग्रह करने में लीन भौंरों की गुंजार की तरह, वासन्ती-मंजरी के प्रथम नवीन फूल की तरह, जन्मदिन पर शंख-ध्वनि की चहकार के समान वसन्त मास ने पदार्पण किया।"

शृंगार-वर्णन में उसकी प्रतिभा ने यह दृश्य शब्दों में बांध दिया है--

निर्मलं प्रियतमं हृदये मे किं करोषि कलुषं रजनीश।

मुन्च रत्नचषके मदिरां मे न वेत्सि निजमङ्ककलङ्कम्॥[19]

"हे निशापति चन्द्र, मेरे हृदय में निर्मल प्रियतम बस रहा है, उसे तुम अपनी स्वच्छता से मात नहीं कर सकोगे (मैला नहीं बना सकोगे), क्योंकि तुम्हारी गोद में काला धब्बा है, अत: मुझे अपने से बड़ा मानकर मुझे रत्नजटित प्याले में मदिरा डाल दी (एक दास की तरह।)"

"चौरपंचाशिका" के कश्मीरी संस्करण में प्रथम दो श्लोकों की साक्षी से यह अनुमान लगाना उचित प्रतीत होता है, कि यह गीत उस समय लिखा गया था, जब अभी बिल्हण् को राजाश्रय प्राप्त न हुआ था[20], इस गीत को "चौरकवि" की कृति भी माना गया है, परन्तु यह वास्तव में नाम न होकर बिल्हण् का ही उपनाम है, जिसका आधार इस रचना के अन्तिम श्लोक में दिए गए इस श्लोक का भ्रामक इति पाठ है--

चौरसुरत पंचाशिका समाप्ता इति।[21]

"चोर द्वारा प्रणीत सुरत के पचास श्लोक इस प्रकार समाप्त होते हैं।" यहां पर अभिप्राय "दिल के चोर" से है, न कि चोर नामक किसी कवि से, सर आड़विन आरनल्ड ने इसे "प्रेम-विलाप" की संज्ञा दी है, जो यथार्थ भी है।[22] यह उस कवि का विलाप है जो राजकुमारी का दिल चुराने के अपराध में फांसी पर झूलने जा रहा है, इस प्रकार की मानसिक स्थिति में जब जीवन और मृत्यु के बीच कोई अन्तर न रहने वाला है, कवि का हृदय अपनी प्रेयसी के साथ बिताए गए मिठास भरे दिनों को वाणी देने लगता है, उसके स्मृति-पटल पर वे सब रंग उभरते हैं जिनकी सुमधुर छाया में उसे राजकुमारी का प्रेम प्राप्त हुआ। वह मीठी चुभन उसके हृदय के तारों को झंझोड़ती है, और यही तड़प गीत का मधुर-करूण रूप धारण करती है। यह गुदगुदी उसे बराबर "आज तक" सरसता प्रदान करती जा रही है। यही कारण है कि वह प्रत्येक श्लोक का आरम्भ "अद्यापि"-- आज भी --से करता है। क्या पाया था, और अब क्या खोने जा रहा है, इसी का मातम इस गीत में है। कभी-कभी प्रेम-वर्णन मांसल भी हो उठता है--

अद्यापि सा नखपदं स्तनमण्डलं यत्।

दत्तं मयास्य मधुपान विमोहितेन॥

उद्भिन्नरोमपुलकैर्बहुभि: प्रयत्नात्।

जागर्ति रक्षति विलोकयति स्मरामि॥[23]

"मुझे आज भी याद है कि वह मेरी प्रेयसी उसके गोल स्तनों पर मुझ से दिए गए नाखूनों की खरोच से जागती रहती है, उसकी रक्षा करती है। मिटने नहीं देती और बराबर देखती रहती है, यह (खरोच) मैंने उस समय दी थी जब मैं उसके होठों की मिठास पीने से मतवाला हो चुका था, और वह अपने असंख्य रोमों को खड़ा होने की प्रसन्नता को बड़ी कठिनाई से रोक पाई थी।"

कई लोगों का विश्वास है कि यह "पंचाशिका" बिल्हण् की अपनी अनुभूति है, अपना ही अनुभव उसने इसमें गूंथ डाला है, इस सम्बन्ध में किसी अधिकृत प्रमाण के अभाव में हम कुछ नहीं कह सकते, परन्तु यह तथ्य भी सर्वमान्य है कि कवि की कल्पना ऐसे अवसरों पर अनुमान से भी काम ले सकती है। जो कुछ भी हो , गीत की सरसता ताजी और महकीली है।

"कर्ण-सुन्दरी"[24] इस नाटिका की नायिका का नाम है। संस्कृत में नायिकाओं के नाम पर ही प्राय: नाटकों का प्रणयन किया है। कविकुलगुरु कालिदास ने भी इसी तरह अपनी अमर कृति "शकुन्तला" का नामकरण किया है। "कर्ण-सुन्दरी"

नाटिका में चार अंक है। इसमें चालुक्य वंश के भीमदेव के पुत्र कर्णराज तथा राजकुमारी कर्ण सुन्दरी की प्रेम-कहानी गूंथी गई है। प्रतीत होता है कि बिल्हण ने इस नाटिका के नाम के साथ यमकालंकार का भी प्रयोग करना चाहा है, ''कर्णस्य सुन्दरी'' कर्ण की सुन्दर प्रेयसी, की ध्वनि भी इससे निकल सकती है, परन्तु यह नाटिका नाट्य-गीत की कोटि में ही आएगी, क्योंकि इसमें नाटक-सम्बन्धी नियमों का सुचारू रूप से पालन नहीं हो पाता है। भावपक्ष में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय हो पाया है, श्लोक मार्मिक है, कला पक्ष में गद्य का यथास्थान संक्षिप्त तथा सरल भाषा में प्रयोग किया गया है, प्राकृतों को भी पात्रानुसार स्थान मिल पाया है। कर्णराज अपनी प्रेयसी की अनुपम सुन्दरता का इस तरह वर्णन करता है--

धूमश्यामिलतेव तापनवशाच्चामीकरस्यच्छवि
पूचन्द्रो मुक्त इव श्रिया किसलया निधतौरागा इव।
नि:सारेव धनुर्लता रतिपते: सुप्तेव विश्वप्रभा
तस्या किंच पुरो विभान्ति कदलीस्तबक सदम्भा इव ॥[25]

''आग में पड़ने के कारण सोने की चमक धुएं से काली-सी पड़ गई है, चन्द्रमा की शोभा वैसे ही लुट गई है जैसे नयी कोपलों की लाली छिन-सी गई हो, कामदेव का लता-रूपी धनुष यहां निस्सार बन गया है, संसार की रंगीनी जैसे सो गई हो, परन्तु उस मेरी प्रेयसी के सामने केवल केलों के गुच्छे गर्व से चमक रहे हैं, (क्योंकि इनकी तुलना उसके रुओं से की गई है।)''

हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि विक्रमांकदेवचरित कवि की अन्तिम कृति है, और यह दो रचनाएं इससे पहले की हैं, इनमें भाव, भाषा और शैली का वह चमत्कार देखने में नहीं आता जो इस ऐतिहासिक काव्य में दृष्टिगोचर होता है।

बिल्हण् मूलत: एक रोमानवादी कवि है, कवि की आत्मिक स्वतन्त्रता की यह रोमानवाद पराकाष्ठा है, मानव में निहित प्रेमभाव का पुट इसमें पूरी तरह विद्यमान होता है। बिल्हण् दर्शन की भूल-भुलैयों में खोना नहीं चाहता।

जैसे सोमानन्द, अभिनवगुप्त इत्यादि शैवाचार्यों की विशेषता है, वैसे ही वह मम्मट् इत्यादि काव्य-शास्त्रियों के तर्क-से दूर रहना चाहता है, इसी तरह वह इतिहास-प्रणयन के प्रति भी उदासीन है जिसका श्रीगणेश कल्हण ने किया। वह केवल मानव-मन में प्रेम की मिठास की वर्षा करना चाहता है, वह अपनी

भावनाओं का यथातथ्य अनुवाद करता जाता है, वह ऐसे संसार का सृजन करता है जिसमें अंगूरों की मस्ती और केसर की महक समोई हुई है। संक्षेप में वह अपनी कल्पना के पंख कतरना नहीं चाहता।

बिल्हण् का यथेष्ट आग्रह प्रेम की ओर है, इसे मानव-अनुकम्पा का दूध भी कहा गया है। ''यद्यपि भारतीय कवियों द्वारा प्रेम-निरूपण आदर्श -वादी नहीं, अपितु मांसल तथा इन्द्रियजनित, तथापि वे भावनाओं की सूक्ष्मता और कोमलता और विचारों की प्रांजलता व्यक्त करने में सब से ऊपर है।''[26] बिल्हण भावनाओं को प्रतिबिम्बित करने में प्रकृति का सुकोमल संबल अपने हाथ में आने नहीं देता, इस तरह कवि और प्रकृति की धड़कनें समस्वर हो उठती हैं। प्रेम का शाश्वत संगीत इनसे हर समय फूटता रहता है। ''संस्कृत के गीतकारों ने कलात्मक भाव-व्यंजना द्वारा प्रकृति और मानव को एकरूपता प्रदान की है।''[27] कश्मीर का प्राकृतिक सौन्दर्य नि:सन्देह कवि की कल्पना को अनुप्राणित करने में सहायक बनता है, परदेस में रहते हुए भी उसे अपने देश की ''विद्धत्ता, केसर हिम-शील जल और अंगूरों''[28] की मीठी याद सताती रहती है, इसी प्रेरक-स्मृति ने उसे ''कल्याण'' में भी अनूठे प्रकृति चित्रण की विदग्धता प्रदान की। भावों को उत्तमता के साथ-साथ उससे प्रयुक्त भाषा में प्रांजल प्रवाह है। यद्यपि उसने बहुत से छन्दों का प्रयोग किया है, परन्तु उसे ''मन्दाक्रान्ता'' अधिक प्रिय है। अलंकारों की योजना स्वत: सिद्ध उसकी प्रतिभा की चेरी बन जाती है, यह जबरदस्ती लादे हुए दिखाई नहीं देते, बत: उसका काव्य बोझिल नहीं बन पाता वितस्ता की लहरों की सरगम की तरह यह अपने आप हमें आकृष्ट करता है, धड़कनों में सजीवता और सरसता की पैबन्द देता जाता है, अत: जब वह इसे वाणी देता है तो यह अत्युक्ति नहीं सूझती--

सहोदरा: कुंकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविता विलासा:।

न शारदा देशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोह:॥[29]

''निश्चय ही कविता-विलास और कुंकुम-केसर आपस में सगे भाई है, एक ही मां जाये हैं, क्योंकि शारदा देश (कश्मीर) के बिना मैंने इनका प्रफुल्लित होना कहीं और नहीं देखा है।''

परदेश में पर्याप्त सुख-सुविधा प्राप्त होने पर भी वह कश्मीर की प्राकृतिक छटा को ही कविता का आदि स्रोत समझता है, वहां जाकर कवि-कल्पना बांझ भी हो सकती है। कश्मीर के गीतकारों में वह सर्वोपरि है, मानव भावनाओं का प्रकृति के प्रेरणादायक परिवेश में वह प्रेम की सतरंगी व्याख्या करने में सिद्धहस्त है,

इसीलिए तो संस्कृत-साहित्य-परम्परा में उसे "यस्याचोरः चिकुरनिकरः" -- कविता-कामिनी के मनभावने केश-विन्यास की संज्ञा दी गई है, और उसे कविकुलगुरूः कालिदास के समकक्ष रखा गया है।[30]

बिल्हण का सौभाग्य ही समझिये कि उसे जीवन में ही अपनी पैनी कल्पना का पुरस्कार मिला, नहीं तो मरणोपरान्त ही बहुशः काव्यकारों के गुण गाये गये हैं। यद्यपि अपने संरक्षक विक्रमादित्य चतुर्थ के यशोगान में उसने अधिक स्याही खर्च की है, परन्तु इसे महाराज के प्रति आभार-भाव ही समझा जायेगा। जो मान-प्रतिष्ठा उसे महाराज से मिली, उसे उसने अपनी विदग्धता से लौटा दिया, ऋण की एक पाई भी शेष न रही। ऐसा आदान-प्रदान बिरला ही देखने में आता है।

तो जब वह इस प्रकार की अतिशयोक्ति से काम लेता है, यह वितृष्णा पैदा नहीं करती, यह वास्तव में तथ्यनिरूपण ही है। कवि के मुंह से आत्म श्लाघा सुन कर हम समझते हैं कि वह वस्तुतः हमारी ही प्रतिक्रिया को वाणी दे रहा है--

ग्रामो नासौ न स जनपदः सास्ति वो राजधानी
तन्नारण्यं न तदुपवनं सा न सारस्वती भूः।
विद्वान्मूर्खः परिणतवया बालकः स्त्रीपुमान्वा
यत्रोन्मीलनपुलकमखिलानास्य काव्यं पठन्ति॥[31]

"न वह कोई गांव है,न उपनगर और न राजधानी, वह कोई जंगल नहीं, न उपवन ही, और न वैसी भूमि जहां विद्वतगोष्ठियां होती है, वह न विद्वान है और न ही मूर्ख, न प्रौढ़ और न बालक, न स्त्री और न पुरुष, जहां उसका काव्य सम्पूर्ण हर्ष से, विस्मय के कारण आंखें मटका कर न पढ़ा जाता हो॥"

-0-

1. विक्रमांक देव चरितम् 18, 6, 2. राजतरंगिणी, भूमिका (अंग्रेज़ी) 3. VII, 935-937, 4. डॉ० कीथ-संस्कृत साहित्य का इतिहास, 5. VII 937 6. डा० बूहलर-- कश्मीर रिपोर्ट। 7. विक्रमांक देव चरितम्, 18, 8. समय-1358-1585 सन्, 9. विक्रम० 18, 10. राजतरंगिनी-VII 935, 11. कर्नल टॉड-राजस्थान, 12. डा० कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास; 13. डॉ० बूहलर-कश्मीर रिपोर्ट, 14. डॉ० बूहलर द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित,

15. काव्यमाला–प्रथम, 16. निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 17. वी०जी० आयंगर, क्लासिकल संस्कृत इतिहास, 18. विक्रम० VII, 41, 19. विक्रम० IX 68, 20. वही, 21. डॉ० बूहलर, 22. लन्दन संस्करण, 1895 ई० 23. लंदन से कश्मीर रिपोर्ट श्लोक 35, 24. निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1895 ई० प्रकाशित, 25. कर्ण सुन्दरी अंक II, 2, 26. डॉ० कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास, 27. वी०जी० आयंगर संस्कृत साहित्य का इतिहास, 28. राजतरंगिणी I, 42, 29. विक्रम० 1/21 30. अनुक्रमणिकाओं में प्राय: दोहराए जाने वाला श्लोक, 31. विक्रमांक० III, 9

जन कवि क्षेमेन्द्र

प्राय: संस्कृत साहित्य के दिग्गज एवं कवि अत्युक्ति के दोषी पाए गए हैं। इस दिशा में यह कहना ठीक होगा कि कई स्थलों पर इनकी कल्पना ने अतिशयोक्ति का दामन इस प्रकार थामा है, कि इससे मन में वितृष्णा-सी पैदा होती है। इस प्रकार का बढ़ा-चढ़ाकर कहना तब अधिक प्रगल्भ हो उठता है जब इन्हें अपने आश्रयदाताओं, नायकों अथवा प्रेमिकाओं का वर्णन करना पड़ा है। कभी-कभी दानवीरता के अनुपात से राजाओं की स्तुति की गई है और उन्हें इन्द्र के समान भी चित्रित किया गया है, भले ही उनमें एक भी गुण न हो। साधारण जनता को उपेक्षित रखा गया है। बहुश: कवियों की कल्पना राजाओं के शीशमहलों से उतरकर एक साधारण किसान की झोंपड़ी तक आने का साहस न कर सकी है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में एकांगिता और अधूरेपन का आना अनिवार्य-सा बन गया था। इस प्रकार के साहित्यिक दृष्टिकोण के लिए केवल कवि ही उत्तरदायी न माना जायेगा। हमारे समीक्षा-ग्रन्थों में महाकाव्य के नायक बनने का अधिकार किसी देवता, साधु अथवा दिव्यगुणों से सम्पन्न मानव को[1] है; समाज का कोई और प्राणी इस विशिष्टता के अयोग्य माना गया है। अत: कवियों और साहित्यकारों ने समीक्षा के इन मानदण्डों के अन्दर ही रहना श्रेयस्कर समझा। उनमें इस प्रकार के बने-बनाये खूंटे को धकेल कर, रस्सी तोड़ कर भागने की सामर्थ्य न थी।

सौभाग्य से "क्षेमेन्द्र" नामक एक कश्मीरी ब्राह्मण ने इस तरह की बंधी-बंधाई लीक पर चलने से इन्कार किया। उसने जन-जीवन को ही अपने काव्य का विषय बनाया। इस प्रकार का विद्रोह उस समय में प्रतिष्ठित मूल्यों के परिवेश में देखा जाना चाहिए। आजकल समीक्षा के मानदण्ड बदल चुके हैं; परन्तु उस समय ऐसी निडरता दिखाना क्षेमेन्द्र के आत्मविश्वास का अचूक प्रमाण है। इस निर्भीक आस्था का वजन और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि इस बहुविश्रुत पण्डित ने स्वयं भी काव्य-शास्त्र पर लिखा है।[2] जिस प्रगतिशील साहित्य का सृजन बीसवीं

शताब्दी के पूर्वार्ध से होने लगा है, उसकी नींव क्षेमेन्द्र ने संस्कृत के माध्यम से ग्यारहवीं शताब्दी में ही डाल दी थी। साहित्य-रचना के बदलते मूल्यों के प्रति इस सजग कलाकार ने आठ सौ वर्ष पूर्व ही एक सशक्त इशारा किया था। उसने अपने काव्यों में साधारण जनता का ह्रास, विलास, उल्लास, रोदन, भय और त्रास अपूर्व कौशल से गूंधा है। पांव-तले धरती की धड़कनों को उसने तारों की स्वप्निल बातों से अपेक्षाकृत अधिक संजीव और प्रांजल माना है, जभी तो उसकी दूरदर्शी कल्पना ने आदर्श और यथार्थ में से यथार्थ की झुलसाती गर्म रेत का ही चित्रांकन करना अधिक उपयोगी समझा। आदर्श की मिठास का जभी पूरा स्वाद मिलता हैं जब इससे पहले यथार्थ की कटुता का अनुभव हुआ हो। उसने वास्तव में यथार्थ के रास्ते से ही आदर्श के प्रति उतना उत्साही नहीं। सब लोग ''राम'' और ''सीता'' नहीं हो सकते; अपनी सीमाओं से अभिभूत होकर, कई लोग तो इनके बोझ तले दब जाते हैं। कई इनसे ऊपर उठकर आदर्श को पाने की तीव्र लालसा से आगे बढ़ते हैं। इन लोगों में से ही समाज के ऐसे पुरूष-रत्न चुने जाते हैं, परन्तु वे भी पूर्ण रूप से आदर्श का साक्षात्कार नहीं कर पाते। अत: आदर्श से दूरी के अनुपात से ही मानव की दिव्यता मापी जायेगी। इस प्रांजल लक्ष्य ते जिस व्यक्ति की बहुत कम दूरी हो, वहीं तो सच्चे अर्थों में आदर्शवादी कहलायेगा। जनता का जातिवाचक गुण यथार्थता है; आदर्श तो वैयक्तिक विशिष्टता है।

राजतरंगिणीकार कल्हण् ने क्षेमेन्द्र का उल्लेख किया[3] है, जिसमें इस इतिहासकार ने इसकी कवि-प्रतिभा की प्रशंसा तो की है, परन्तु उसके इतिहास-प्रणयन को दोषपूर्ण समझा है-

''केनाप्यनवधानेन कविकर्मणि सत्यपि।
अंशोपि नास्ति निर्दोषं क्षेमेन्द्रस्य नृपावलौ॥

''किसी असावधानी के कारण कविकौशल होते हुए भी, क्षेमेन्द्र की नृपावली (इतिहास ग्रन्थ) का एकमात्र अंश भी दोषरहित नहीं।''

कल्हण् ने ''नृपावली'' देखी थी, और उसमें उसने दोष पाये थे। ये किस प्रकार के थे, इनके प्रति वह मौन हैं। दुर्भाग्य से यह ''नृपावली'' अब अप्राप्य हैं, अत: हम कल्हण् के इस वक्तव्य की न पुष्टि कर सकते हैं और

न विरोध। फिर भी कल्हण् उसके कवि-धर्म की सराहना करता है। प्रस्तुत लेख में हम केवल उसके कवित्व को उजागर करेंगे, इसलिए उसका एक अधिकृत इतिहासकार होना या न होना हमारे लिए एक समान है; इससे केवल एक तथ्य प्रकाश में आता है कि क्षेमेन्द्र कल्हण् का पूर्ववर्ती था।

''समयमांत्रिका'' के इतिपाठ में क्षेमेन्द्र ने स्वयं अंकित किया है कि उसने वह रचना महाराज अनन्त के शासनकाल के (लौकिक संवत्) पच्चीसवें वर्ष में पूरी की। पुन: वह ''सुवृत्ततिलकम्'' में लिखता है कि उसने यह कृति महाराज अनन्त के समय में प्रणीत की, और अन्तत: वह ''दशावारचरितम्'' में स्पष्ट करता है कि उसने यह ग्रन्थ महाराज अनन्त के पुत्र महाराज कलश के शासनकाल में समाप्त किया, जबकि संवत् सप्तर्षि इकतालीस था। इससे यह बात साफ हो जाती है कि कवि ने कम से कम दो कश्मीरी शासकों-अनन्त और कलश का राज्यकाल देखा था। अपनी ''वृहत्कथा मंजरी'' में वह अपने आपको शैवाचार्य अभिनवगुप्त का शिष्य कहता है, जिससे उसने अलंकार-शास्त्र की शिक्षा पाई। जैसा कि पिछले अध्याय में सिद्ध किया गया है कि इस शैवाचार्य का समय 1014 ईसा के बाद ही हो सकता है, क्योंकि उसने प्रत्यभिज्ञा दर्शन की वृहती विवृति इसी समय में[4] लिखी। क्षेमेन्द्र भी इन्हीं दिनों उससे शिक्षा ग्रहण करता रहा होगा; परन्तु एक योग्य छात्र होने के लिए क्षेमेन्द्र की आयु उस समय बीस-पच्चीस के लगभग रही होगी; अत: उसकी जन्मतिथि दसवीं शतीं के अन्तिम भाग में निश्चित की जा सकती है। अनन्त और कलश का उल्लेख केवल हमें उसकी मृत्यु अथवा रचनात्मक साहित्य से सन्यास लेने का पता दे सकता है। महाराज कलश के बाद वह किसी अन्य शासक के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता, अत: इससे सिद्ध होता है कि कलश का उत्तराधिकारी देखना उसके भाग्य में न था। ''दशावतारचरितम'' में दिया गया इकतालीस सप्तर्षि संवत् सन् 1066 ईसा के बाद का बनता है[5]; अत: वह निश्चित रूप से कहा जायेगा कि क्षेमेन्द्र इस सन् के पश्चात् या तो कालकवलित हो गया या उसने लिखना छोड़ दिया। महाराज कलश का शासनकाल सन् 1073 से 1089 तक माना गया है[6], अत: यह कहना संगत होगा कि सन् 1089 के बाद वह किसी भी अवस्था में जीवित न रहा होगा। अत: 1066 सन् और 1089 सन् की दो सीमाओं के बीच किसी भी समय उसकी मृत्यु हुई होगी। कल्हण् के अनुसार वह अपनी वृद्धावस्था में त्रिपुरेश पर्वत पर चला

गया जहां उसने एक आश्रम बनवाया था। सम्भवतः इसी स्थान पर उसने अपने जीवन की अन्तिम सांस छोड़ी।[7] महाराज अवन्तिवर्मन् भी अपने बुढ़ापे में इसी पर्वत पर चले गये थे।[8] इस त्रिपुरेश या त्रिपुरेश्वर तीर्थ की प्राचीन कश्मीर में बड़ी महिमा मानी गई है। नीलमत पुराण में भी इसे एक दिव्य-तीर्थ माना गया है।[9] कश्मीरी भाषा में इसे ''त्रिफर'' कहा जाता है और यह महादेव पर्वत के रास्ते में पड़ता है। यहां एक नदी भी बहती है जिसे ''त्रिपुरगंगा'' कहा जाता है।[10] यद्यपि आजकल इसकी महत्ता कुछ नहीं रह पाई है, परन्तु मुस्लिम शासनकाल में भी यह एक पवित्र तीर्थस्थल माना जाता था। सुल्तान जैनुलाब्दीन (बड़शाह) ने यहां एक यात्रियों की सुविधा के लिए एक स्थायी लंगर (अन्नसत्र) खोल रखा था।[11]

क्षेमेन्द्र अन्य संस्कृत साहित्यकारों की तरह आत्म-विज्ञापन से जी कतराता नहीं; अपनी रचनाओं में उसने अपने वंशवृक्ष का पूरी तरह परिचय दिया है। इस प्रकार उसके ही कथनानुसार उसके पितामह का नाम ''सिन्धु'' था, जो महाराज जयापीड़ के एक मन्त्री ''नरेन्द्र'' का पुत्र था। क्षेमेन्द्र अपने पिता का नाम ''प्रकाशेन्द्र'' देता है। वह कहता है कि उसके पिता की दानशीलता बहुत विख्यात थी। वह शैव था अतः उसने ''स्वयंम्'' नाम वाले गांव में बहुत-से शिवलिंग स्थापित करवाये थे। यह स्थान आजकल की हंदवाड़ा तहसील (प्राचीन हिन्दूवाट) में स्थित है। इसके अतिरिक्त उसने ब्राह्मणों की भलाई के लिए लगभग 25 लाख की धनराशि सुरक्षित रखी थी। क्षेमेन्द्र का पुत्र सोमेन्द्र था, जो अपने पिता के अनुरूप ही विद्वान था, इसने अपने जनक क्षेमेन्द्र की रचित ''बुद्धावदान कल्पलता'' की भूमिका लिखी। एक तथ्य की ओर यहां पर इशारा करना ठीक होगा। क्षेमेन्द्र के पिता, पितामह, और पुत्र के नामों के साथ ''इन्द्र'' शब्द जोड़ा गया है, जिससे यह ध्वनि निकलती है कि यह कुल बहुत ही सम्पन्न रहा होगा; दूसरा तथ्य यह भी साफ होता है कि इस कुल के नाम संस्कृत से लिये गये हैं, देश-भाषा से नहीं, जैसे कल्हण्, बिल्हण्, मम्मट इत्यादि।

क्षेमेन्द्र की बहुमुखी प्रतिभा नाना दिशाओं में विकसित हुई है। उसने यद्यपि प्रधान रूप से जन-जीवन पर अपनी लेखनी उठाई है, फिर भी इतिहास, धर्म और काव्य-शास्त्र भी उससे अछूते नहीं रहे हैं। इतना सब कुछ लिखने के बाद भी उसमें विनय की प्रगल्भता है और वह इसी कारण अपने आपको

"व्यासदास" कहता है[12]; वह अपने आपको व्यास के बराबर नहीं समझता। सच्ची विद्या विनय देती है, और क्षेमेन्द्र इस सत्य का ज्वलन्त प्रमाण है। यद्यपि इसके पिता शैव थे, परन्तु क्षेमेन्द्र वैष्णवधर्म में अधिक आस्था रखता है, और इस धर्म की दीक्षा उसे "सोम-भागवत" से मिली थी।[13] उसकी सजग बुद्धि ने शायद "बुद्ध" की हिन्दुओं के दस अवतारों में सर्वप्रथम शामिल किया[14], यद्यपि वह शैवधर्म के प्रति उतना अनुरक्त न था, बौद्धों के प्रति उसका सचेत आग्रह था, और वैष्णव-धर्म में उसकी आस्था थी, फिर भी वह श्रुतियों और स्मृतियों में असीम विश्वास रखता था।[15]

इससे पूर्व कि हम क्षेमेन्द्र की साहित्यिक चर्चा का विश्लेषण करें, यहां पर प्रो० पीटरसन द्वारा उठाये गये एक भ्रम की ओर इंगित करना समीचीन दिखाई देता है। प्रो० महोदय ने किसी भ्रमवश क्षेमेन्द्र को क्षेमराज समझा है। क्षेमराज शैवधर्म का एक प्रख्यात वृत्तिकार है। सम्भवत: इस प्रकार का भ्रम इन दोनों साहित्यकारों का अभिनवगुप्त को अपना गुरु समझने से पैदा हुआ है; परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है कि क्षेमेन्द्र ने केवल "काव्यशास्त्र" की शिक्षा अभिनवगुप्त से ली; वह शैवधर्म में कभी भी दीक्षित न हुआ। क्षेमराज अभिनवगुप्त को अपना धर्मगुरु मानता है, और स्वयं एक प्रसिद्ध शैव है और इस शास्त्र की गुरूपरम्परा में इसका नाम भी आता है[16], अकाट्य तथ्यों के आधार पर बाद में प्रो० महोदय ने इन दो को अलग-अलग व्यक्ति मान लिया है।[17] क्षेमेन्द्र की काव्य-कला मोटे तौर पर चार भागों में बांटी जा सकती है–

(अ) रामायण, महाभारत तथा अन्य बृहत् साहित्य को संक्षिप्त रूप देने वाला, (आ) इतिहासकार के रूप में, (इ) व्यंग्यकार के रूप में (ई) काव्यशास्त्र तथा छन्दों पर लिखने वाला।

(अ) इस कोटि में उससे "मन्जरियां" गिनाई जा सकती हैं, रामायण-मन्जरी, भारत-मन्जरी तथा बृहत्कथा मन्जरी। इनके अतिरिक्त "दशावतारचरितम्" तथा "बौद्धावधान कल्पलता" भी इसी के अन्तर्गत रखी जा सकती है। "गुणाढ्य" की बृहत्कथा का सार देकर क्षेमेन्द्र ने एक महत्त्वपूर्ण काम किया है, क्यों गुणाढ्य की मूल पुस्तक अप्राप्य है; अत: इस "मन्जरी" के अध्ययन से मूल पुस्तक में दी गई घटनाओं का अवलोकन किया जा सकता है। पैशाची भाषा से संस्कृत में अनूदित करके क्षेमेन्द्र ने इस बृहत्कथा को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बना दिया है। इसीलिए कई आलोचक इसे

अनुवादक की अपेक्षा मूल लेखक समझना अधिक समीचीन समझते हैं। प्राचीन काल में बृहत्कथा कश्मीर में बहुत लोकप्रिय रही है। क्षेमेन्द्र के अतिरिक्त सोमदेवभट्ट ने भी इसमें दी गई कथाओं का संस्कृत में संक्षिप्त रूप तैयार किया है।[18] क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा मन्जरी उन्नीस सर्गों में लिखी गई है, और इसमें विशेष रूप से महाराज उदयन के पराक्रम तथा प्रणय का वर्णन किया गया है।[19] परन्तु इसमें प्रयुक्त संस्कृत उत्तम स्तर की नहीं; डा० बृहलर इसीलिए इसे ''गद्यमयी कविता'' कहते हैं।[20] रामायण[21] तथा महाभारत[22] की मन्जरियां इन बृहत् काव्यों के संक्षिप्त संस्करण हैं; परन्तु भारत-मन्जरी में महाभारत के शान्तिपर्व के 342-353 सर्गों को उपेक्षित रखा गया है; इसका कोई उचित कारण दिखाई नहीं देता, ''रामायण मन्जरी'' वाल्मीकिकृत रामायण का निर्विरोध संक्षिप्त रूप है, इसमें वाल्मीकि द्वारा दी गई घटनाओं का पूरी तरह अनुसरण किया गया है। ''बौद्धावदानकल्पलता'' जातकमाला का संक्षिप्त संस्करण है। क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र का कथन है कि उनके पिता ने इसके केवल 107 सर्गों की रचना की थी, जिनके साथ उसके योग्य पुत्र ने एक और सर्ग जोड़ दिया, ताकि शुभ संख्या 108 तक पहुंच सके।

दुर्भाग्य से इसके प्रथम चालीस सर्ग लुप्त हो चुके थे, परन्तु बाद में ''शाक्य-श्री'' एक कश्मीरी पण्डित द्वारा तिब्बती अनुवाद से प्राप्त हुए।[23] इसी तरह ''दशावतार-चरितम्'' भी पुराणों का ऋणी है। इसमें विष्णु के दस अवतारों का वर्णन है। इन अवतारों में बुद्ध का समावेश हुआ, राम और कृष्ण के समान ही जब उसकी भक्ति होने लगी, तो बौद्धों के उग्र प्रचार की धारा कुण्ठित हो गई, इस तरह उन्हें या तो हिन्दू राष्ट्र में विलय होना था, या आत्म-निर्वासन द्वारा अपना धर्म सुरक्षित रखना पड़ा। बौद्धों के विद्रोह को हिन्दुओं ने समन्वयनीति से शान्त किया।

(आ) इतिहासकार के रूप में हम क्षेमेन्द्र की विशेषता का कोई भी वर्णन नहीं कर सकते, क्योंकि उससे प्रणीत ''नृपावली'' समय के धुंधलके में कहीं खो गई है। हमें केवल कल्हण की साक्षी पर संतोष करना पड़ता है, जो इसे एक निम्नकोटि का इतिहास-ग्रन्थ मानता है।[24] वास्तव में क्षेमेन्द्र की कल्पना जन-जीवन का संबल पाकर ही अधिक निखर आई है; इसी विषय के काव्य उसकी मौलिक कृतियां माने जायेंगे, और इन्हीं की कसौटी पर उसकी कवि-प्रतिभा आंकी जा सकती है।

(इ) "कलाविलास"[25] को हम निर्विवाद रूप से क्षेमेन्द्र की उत्तमोत्तम कृति मान सकते हैं। इसमें दस सर्ग हैं, और प्रथम वर्ग में हमें मूलदेव शतधूर्त के दर्शन होते हैं, जो सार्थवाहपुत्र चन्द्रगुप्त को विविध विषयों में पारंगत बनाने के लिए उसे उपदेश देता जाता है, और प्रत्येक सर्ग में इसीलिए क्रमशः दम्भ, लोभ, वेश्या-वृत्ति, कायस्थचरित, मद, गायन-वर्णन, नाना धूर्त वर्णन इत्यादि विषयों पर लेखनी आजमायी गई है, और अन्तिम सर्ग में सकलकला निरूपण दिया गया है।[26] जैसा कि सर्गों के शीर्षकों से स्पष्ट है इस ग्रन्थ में कवि समाज में पनपती हुई दुर्बलताओं को नंगा करना चाहता है। धूर्त, वेश्यायें, कायस्थ और स्वर्णकार समाज पर छाये हुए थे और जनता का शोषण करने से कतराते न थे। सतयुग में व्यवहृत दम शब्द अब कलिकाल में मद बन गया था, अक्षरों में स्थान परिवर्तन के साथ-साथ लोगों के चिन्तन तथा व्यवहार में भी विकार पैदा हो गया था। कश्मीर में प्रचलित उस समय के सामाजिक मूल्यों की ओर कवि बहुत ही प्रभावोत्पादक इशारा करता है। इसके अतिरिक्त कश्मीर में उस समय की मुद्रा का भी वर्णन इस ग्रन्थ में दिया गया है। दराटकों अथवा कौड़ियों का प्रयोग उस समय मुद्रा के रूप में किया जाता था। एक कंजूस बनिये (किराट) को क्षेमेन्द्र दिवसचोर कहता है जो दिन के प्रकाश में ग्राहकों को लूटता है, परन्तु गृहस्थी चलाने के लिए तीन कौड़ियां देने से भी हिचकिचाता है। उस समय के सुनार दोषयुक्त धर्मकांटे रखकर लोगों को धोखा देते थे, और उन्हें औरों को ठगने के लिए चौसठ कलाओं पर अधिकार था।[27]

उनके जन्म के सम्बन्ध में ग्रन्थकार एक विचित्र घटना का उल्लेख करता है; पूर्वजन्म में ये सुनार चूहे होकर मेरू-पर्वत को निरन्तर कुतरते जाते थे; इस बुरे आचरण के कारण देवताओं ने उन्हें शाप देकर पृथ्वी पर सुनारों के रूप में धकेल दिया।[28] इस काव्य के शीर्षक में कला शब्द का प्रयोग छल-कला के रूप में किया गया है, और इस छल-कला का उस समय के कश्मीर में बड़ी निर्भीकता से व्यवहार किया जाता था, शीर्षक साफ तौर से व्यंग्यात्मक है। कला दक्षता का पर्याय है, और यह दक्षता अब केवल लोगों को ठगने के लिए प्रयुक्त होती थी; पाप का अचूक साधन बन गई थी।

जार की दुश्चरित्रता के सम्बन्ध में कवि यह कहता है–

निजपतिचपल कुरंगी परतरू भृंगी स्वभाव मातंगी।
मिथ्या विभ्रम् भंगी कुटिल भुजंगी निजा कस्य॥[29]

"अपने पति से दूर भागने वाली चंचल हिरणी, पराये वृक्ष की भौंरी, स्वभाव से चण्डालन, झूठे नाज़-नखरे करने वाली, दुष्ट सर्पिणी (यह जार) किसी की हो नहीं सकती।"

वेश्या के प्रति यह प्रताड़न मार्मिक हो पाया है–

इत्येवं बहुहृदया बहुजिह्वा वा बहुकराश्च बहुमाया:।
तत्त्वेन सत्यरहिता: को जानाति स्फुट वेश्या॥[30]

"इस प्रकार बहुत हृदयों वाली, बहुत जिह्वाओं वाली, बहुत हाथों वाली, और बहुत प्रकार से छलने वाली, वास्तव में सच्चाई से दूर, कौन व्यक्ति वेश्या को पूरी तरह समझ सकता है?"

पुरुषों की अज्ञानता और भोलेपन का क्षेमेन्द्र इस तरह प्रभावोत्पादक वर्णन करता है–

गणयति गगने गणकश्चन्द्रेण समागमं विशाखाया:।
विविध भुजंग क्रीड़ासक्ता गृहिणीं न जानाति॥[31]

"ज्योतिषी आकाश पर से देखकर, गिनकर बता देता है कि कब चंद्रमा का सोलहवें नक्षत्र में मिलन होगा। परन्तु वह अपने घर में बैठी गृहिणी को नहीं जान पाता, जो नाना प्रकार के लम्पटों से मौज मनाती जाती है।"

कायस्थ, जो उस समय कश्मीर में बहुत ही प्रभावशाली अधिकारी माना जाता था, कवि की पैनी दृष्टि से बच न सका है–

"कुटिललिपिविन्यासा दृश्यन्ते कालपाशसंकाशा:।
कायस्थभूर्ज शिखरे मण्डललीना इव व्याला:॥[32]

"कायस्थों की लिखावट टेढ़ी-मेढ़ी होती है, जो यमराज के पाशों के समान दिखाई देती है, भूर्जपत्र[33] की फायलों के ढेर पर वह ऐसे बैठते हैं, जैसे सपेरे द्वारा खीचे गये गोल दायरे में मन्त्रों द्वारा सांप बन्द हों।"

यहां पर क्षेमेन्द्र यह बताना चाहता है कि कायस्थ (क्लर्क) अपनी फायलों में साफ न दिखने वाली लिपि का प्रयोग करता है, ताकि वह बाद में अपनी इच्छानुकूल इससे लाभ उठाने में सफल हो सके। वह किसी को भी इन फायलों को हाथ लगाने नहीं देता, और सांप की तरह इन पर बैठकर लोगों को इनके समीप आने से डराता रहता है। इस प्रकार वह मनचाही घूस वसूल कर सकता है।

''समयमातृका''[३४] भी क्षेमेन्द्र द्वारा रचित एक उत्तम कृति मानी जा सकती है। इस रचना में कवि वेश्याओं की कामुकता का मार्मिक वर्णन करता है। इसी ग्रन्थ के इतिपाठ में वह इसे ''सुभाषितम्'' नाम भी देता है, जिससे इनमें से उपदेशात्मक ध्वनि निकलती है। जैसा कि पुस्तक के शीर्षक से भली-भान्ति प्रकट होता है कि इसे ''समय की माता'' कहा गया है। मातृकापूजन कश्मीर में बहुत समय से चला आ रहा था, परन्तु क्षेमेन्द्र के दूषित समय में अब ''बाराही'', ''ब्राह्मो'', ''चण्डी'' इत्यादि के प्रति कोई श्रद्धा नहीं रह पायी थी, व्यंग्यात्मक रूप में कवि हमें यह कहना चाहता है कि उसके समय में चरित्रहीनता इस चरमसीमा को पहुंच गई थी कि लोग ''मातृकापूजन'' के स्थान पर ''वेश्यागमन'' को अधिक अच्छा समझते थे, अत: उस समय की मातृकायें वेश्याएं थीं। उसका शीर्षक के रूप में इस समास का प्रयोग अनुमान की अपेक्षा अनुभव का सबल साक्षी है। क्षेमेन्द्र समझता है कि इस प्रकार लोगों में, जनता में वेश्याओं के प्रति आसक्ति को नंगा करके वह समाज में सुधार ला सके, जभी तो इसे ''सुभाषितम्'' नाम भी दिया गया है, अथवा यह भी सम्भव है कि साधारणत: सुभाषित वेदों, धर्मग्रन्थों इत्यादि से चुने जाते हैं, परन्तु उसके समय में इन्हें कोई नहीं पूछता था। कारण स्पष्ट है; अत: उसने समय की मांग के अनुसार वेश्याओं की कामकला को ही सुभाषित का नाम दिया, व्यंग्यरूप में ''कुभाषित'' को ''सुभाषित'' बना दिया, ताकि लोगों की कुत्सित रूचि पर आघात किये बिना उसका सुधारात्मक ध्येय सफल हो सके। यदि वह ऐसा न करता तो सम्भव था कि उसके ग्रन्थों को कोई भी न पढ़ता और उसका प्रयोजन सिद्ध न होता।

अपने इस शीर्षक की वकालत क्षेमेन्द्र स्वयं इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही इस प्रकार करता है–

क्षेमेन्द्रेण रहस्यार्थमन्त्रतन्त्रौपयोगिनी।

क्रियते वाररामाणामियं समयमातृका॥[35]

"क्षेमेन्द्र द्वारा (प्रणीत) यह समयमातृका अपने रहस्यार्थों को सफल बनाने के लिए जादू-टोना प्रयोग में लाने वाली वेश्याओं की (काम-कला को नंगा करने के लिए) रची गई है।

और इसी ग्रन्थ के समापन के अवसर पर वह यह भी कह डालता है -

समयेन मातृका सा कृत्रिमरूपा कृता कलावत्या।

तन्नाम्नैव निबन्धः क्षेमेन्द्रेण प्रबद्धोऽयम्॥[36]

"समय (के कुप्रभाव) से उस (कंकली) माता के समान पूज्य को, कलावती ने एक नकली सुन्दरी बना डाला (ताकि वह अपना सौन्दर्य बेच सके) एक उसी के नाम से मुझ क्षेमेन्द्र ने यह वृत्तान्त सर्गों में लिख डाला।"

प्रस्तुत काव्य में कंकली नाम वाली एक नारी का करूणाजनक वर्णन है जो समय के फेर से कलावती नाम वाली एक अनुभवी वेश्या के चंगुल में फंस जाती है; जो स्वयं बूढ़ी होने से इसी को अपने कारोबार में आगे धकेल देती है। वेश्यावृत्ति में यौवन और सौन्दर्य का चोली-दामन का साथ है, कलावती इस तथ्य को अच्छी तरह समझती है।

"चारूचर्या"[37] क्षेमेन्द्र का अन्य और ग्रन्थ वास्तव में अनुष्टुप छन्द में दिए गये सौ श्लोकों का संग्रह है। कवि स्वयं इस रचना के सम्बन्ध में लिखता है कि न्याय और राजनीति को सिखाने के उद्देश्य से इसका प्रणयन किया गया है, इसमें श्लोक के प्रथमार्थ में उपदेश दिया गया है और द्वितीय में उदाहरण। ये उदाहरण प्रधानतः रामायण, महाभारत और पुराणों से लिए गये हैं।

"देशोपदेश"[38] में आठ सर्ग हैं जिनमें जनता में प्रचलित विश्वासों, आचार-व्यवहार और समाज में कुत्सित व्यक्तियों के प्रति कवि की प्रतिक्रिया दिखाई गई है। इस रचना के पहले ही श्लोकों में लेखक लोगों से क्षमा मांगता है और कहता है कि जनता के उपकार के लिए ही इस ग्रंथ को लिखा गया है-

हासेन लज्जितोऽन्यन्तं न दोषेषु प्रवर्तते।

जनस्तदुपकाराय समायं स्वयमुद्यम:।।[39]

''बहुत ही लज्जित होने से न कि दोषों को प्रचार करने के कारण, मैंने स्वयं यह साहस किया है कि हास्य के बहाने से जनता का कल्याण हो सके।'' हंसने-हंसाने के साधन को हाथ में लेकर वह वास्तव में दोषों का बखान करके, जनता को इन से दूर रहने की शिक्षा देना चाहता था, सत्य कड़वा है, अत: इसको शर्करावेष्टित करके ही हज़म किया जा सकता है, यही दृष्टिकोण क्षेमेन्द्र का है।

इस ग्रन्थ में जिन पात्रों का उसने वर्णन किया है, वे हैं खल, कदर्य, वेश्या तथा कुट्टिनी। उसके शब्दों में वेश्या का व्यक्तित्व इस प्रकार का है–

मधुरधारेव वचसि क्षुरधारेव चेतसि।

वेश्या कुठार धारेव मूलच्छेदाय कामिनाम्।।[40]

''वचनों में मिठास, परन्तु मन में छुरी, एक वेश्या अपने प्रेमियों के समूल नाश के लिए कुल्हाड़ी की तेज़ धारा के समान है।''

गौड़-देश के विद्यार्थियों के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का यह कथन है:

याचते पण्यमधिकं मूल्यमल्यं प्रयच्छति।

वणिजस्तिष्ठति पुर: प्रभाते दैशिक: कलि:।।[41]

''थोड़ा मूल्य देकर (वह गौड़-विद्यार्थी) अधिक सामग्री मांगता है, इसलिए (सवेरे बनिया) उगाही के लिए उसके सामने झगड़ा करके उसे रास्ते पर ले आता है।''

पिछली रात को जब उसने थोड़े पैसे देकर क़ाफी सामान बनिये से लिया था वह उस समय नशे में चूर था, अत: बनिया चुपचाप उसे सब कुछ देता रहा, क्योंकि यदि वह इन्कार करता तो डर था वह उसे अपशब्द देने के अतिरिक्त छुरा भी घोंप देता, बनिया तब सवेरे जब नशा उतर चुका था, शेष पैसों के लिए उसके पास गया।

कदर्य की कृपणता का एक ज्वलन्त चित्र क्षेमेन्द्र इस तरह खींचता है–

कर्दय: स्वजनं दृष्ट्वा यदृच्छोपन्नं गृहे।
करोति दारकलह व्याजेनानशनव्रतम्।।[42]

"कृपण अपने किसी आत्मीय को अपनी इच्छा से घर आते देखकर पत्नी से झगड़ा करने के बहाने से भूख-हड़ताल कर बैठता है।"

जब गृहस्वामी ही भूख हड़ताल कर बैठा हो, तो बेचारा अतिथि किस प्रकार वहां सत्कार पा सकता है। वह इसलिए वापस चला जाता है, और कृपण उसका आतिथ्य करने से छुट्टी पा जाता है।

नीरसस्य कदर्यस्य माधुर्य वचने कथम्।
गृहे लवण हीनस्य लावण्यं वदने कुत:।।[43]

"फीके स्वभाव वाले कृपण की बातों में मिठास कैसे हो सकती है, जिसके घर में नमक भी न हो, उसके चेहरे पर खुशी (नमकीनी)" कैसे आ सकती है।"

इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने कृपण को आड़े हाथों लेकर उसके मूल-स्वभाव का यथार्थवादी चित्रण किया है।

काश्मीरी पण्डित जिसे "भट्ट" भी कहा जाता है, उस समय चरित्र-हीनता के गढ़े में गिर चुका था :

"मधुपाने कृतबुद्धि: कौलकथानष्ट जाति संकोच:।
मत्स्यशरावकहस्तो गुरुगृहमायाति दीक्षितोभट्ट:।।[44]

"दीक्षित भट्ट मधुपान में दत्तचित, कौलाचार (वामामर्ग) के प्रति आकृष्ट होने से जिसने अपनी जाति का अभिमान नष्ट किया है, हाथ में मछली की प्लेट लेकर गुरु के घर को आता है।"

इस प्रकार की धृष्टता और अधार्मिकता का नग्नचित्र देने से क्षेमेन्द्र कतराता नहीं। ब्राह्मण का इस प्रकार का दूषित आचरण उसके नैतिक पतन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। चूंकि क्षेमेन्द्र स्वयं भी ब्राह्मण था, अत: इस प्रवचन को हम आत्म-समीक्षा भी कह सकते हैं।

"नर्ममाला"[45] वास्तव में "देशोपदेश" की पूरक है, इसमें तीन परिहास (सर्ग) हैं। इनका मूल विषय कायस्थ है, ब्राह्मणों को दु:ख पहुंचाता

है और घूंसखोरी को बढ़ावा देता है। अन्त में उसकी सब चालें नंगी हो जाती हैं और उसे जेल में डाल दिया जाता है, उसकी सारी पूंजी सरकार हथिया लेती है।

कायस्थ पहले क्या था और अब क्या है, इसका मार्मिक वर्णन इस प्रकार किया गया है–

''या पयौ याचितं चामं भग्नेऽश्म भाजने।

तयैव पीयते रौप्यपात्रे कस्तूरिका मधुः।''[46]

''पहले दिनों में जो कायस्थ की पत्नी मांगा हुआ पीच टूटे पत्थर के बर्तन में पीती थी, (अत्यन्त गरीब थी), वहीं अब चांदी के पात्र में कस्तूरी से सुगन्धित मदिरा पीती है।''

दिनों के फेर से, बहुत ही निर्दय घूंसखोरी से उसके पास अब असीम धन है, पाप की यह कमाई अब मदिरा पीने में उड़ाई जा रही है।

चौथी कोटि में हमें क्षेमेन्द्र के दर्शन एक अलंकारशास्त्री, काव्यशास्त्री तथा छन्दशास्त्री के रूप में होते हैं। इन विषयों पर उसकी रचनायें क्रमशः ''कविकण्ठाभरणे''[47] ''औचित्य-विचार चर्चा''[48] तथा ''सुवृत्ततिलकम्''[49] हैं। जैसे कि इन रचनाओं के शीर्षकों से स्पष्ट है प्रथम ग्रन्थ तो कवि की प्रतिभा के उपकरण जुटाता है, जिनके लिए अध्यवसाय और ईश्वरकृपा अपेक्षित है। दूसरी पुस्तक में उसने ''औचित्य'' को काव्य की आत्मा माना है। यहां पर उसने ''रस'' को औचित्य के अधीन माना है। तीसरी रचना छन्दों के विषय में है, जिसमें चौबीस छन्दों पर सारगर्भित टिप्पणी दी गई है। इसके अतिरिक्त और भी कई रचनायें क्षेमेन्द्र द्वारा रचित बताई गई हैं, स्व० मधुसूदन कौल शास्त्री ने इसकी लेखनी से निकली हुई इकतीस रचनाओं का उल्लेख किया है।[50]

इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना होगा कि क्षेमेन्द्र की ख्याति वस्तुतः उसकी मौलिक रचनाओं–कला विलास, समयमातृका, देशोपदेश तथा नर्ममाला–पर आश्रित है और यही ग्रन्थ उसे लोक-कवि बनने का अधिकार देते हैं, शेष ग्रन्थ या तो वृहत् ग्रन्थों के संक्षिप्त संस्करण हैं जैसे उसका ''मन्जरी-साहित्य'' या काव्यशास्त्र की घिसी-पिटी लीक पर चलने वाली रचनायें। इनमें स्पष्ट कारणों से मौलिकता का अभाव दिखाई देता है। क्षेमेन्द्र

की मौलिकता, सहृदयता तथा विदग्धता उसके स्वरचित स्वतन्त्र ग्रन्थों में ही पनप उठी है, जहां उसने व्यंग्य और परिहास के बहाने से समाज में पलने वाली विकृतियों का दिल खोलकर वर्णन किया है, उसने अपने पात्र कश्मीर के बाजारों से चुन लिए हैं और उनके चेहरों पर लगे हुए नकली मुखौटों को उतारकर रख दिया है। यदि उसे बीसवीं शती की प्रगतिशील कविता का अग्रदूत माना जाये, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। नौ सौ वर्ष पूर्व ही इस दूरदर्शी कवि ने उस लोक-काव्य का धूमिल परन्तु मार्मिक प्रारूप खड़ा कर दिया था, जिस पर आजकल के कवि सगर्व चलते हैं। ''कविता जीवन के लिए'' का यह जयघोष सर्वप्रथम क्षेमेन्द्र द्वारा ही मुखरित हुआ है और यह भी संस्कृत के माध्यम से।

कविता का सर्वग्राह्य लक्षण कविराज विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्''[51] है, उनके ही कथनानुसार यह ''रस'' अलंकारों, गुणों का साहचर्य पाकर काव्य की आत्मा कहलाता है, क्योंकि यह श्रोता तथा पाठक को रसविभोर कर देता है। इस प्रकार इस लक्षण में कविता का भावपक्ष कलापक्ष की अपेक्षा अधिक उजागर किया गया है। क्षेमेन्द्र कविता को औचित्य-प्रधान मानता है। उसके ही शब्दों में : ''वहीं अलंकार यथोचित अलंकार माने जायेंगे, जिनका प्रयोग यथोचित स्थानों और सन्दर्भों में हुआ हो, और गुण काव्य-गुण जभी माने जायेंगे जब इनमें ''औचित्य'' का पूरा ध्यान रखा गया हो।[52] इस प्रकार साफ हो जाता है कि क्षेमेन्द्र के अनुसार कविता प्रयोजनवती तथा सार्थक होनी चाहिए, परन्तु वह ''रस'' को ''औचित्य'' के अन्तर्गत ही समझता है; अतः रस सम्प्रदाय और क्षेमेन्द्र के ''औचित्य-प्रतिपादन'' में यह अन्तर है कि प्रथम भावपक्ष में वैयक्तिक है, और दूसरा चिन्तनशीलता से युक्त अवैयक्तिक है।

क्षेमेन्द्र का प्रबल अस्त्र व्यंग्य है, इसके साथ परिहास का होना अनिवार्य है। व्यंग्य की कटुता को ग्राह्य बनाने के लिए ही परिहास का दामन थामा जाता है, व्यंग्य का लक्षण किसी समाज अथवा व्यक्ति के अभावों, मूर्खताओं तथा दोषों को निरावरण करना है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं क्षेमेन्द्र के व्यंग्य का प्रधान विषय व्यक्ति है जैसे वेश्या, बनिया, कायस्थ इत्यादि। कई समीक्षकों के अनुसार व्यंग का प्रयोग करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि इसमें ''विरोध'' तथा ''विद्रोह'' के तत्त्वों का समो

जाना स्वाभाविक बन जाता है[53], परन्तु क्षेमेन्द्र के काव्य को पढ़कर हम पर यह स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है कि इन दोनों तत्त्वों ने उसके व्यंग्य को प्रभावित नहीं किया है, वह इन दोनों से बचकर निकला है जभी तो उस की कविता वितृष्णा पैदा नहीं करती। ''विरोध'' अथवा ''विद्रोह'' की क्षीण छाया भी उसकी कविता में परिलक्षित नहीं होती। वह यथार्थवादी है, स्पष्टवक्ता है, विद्रोहात्मकता की अपेक्षा वह सुधारात्मकता को कविता का शृंगार मानता है। वह उस समाज से अपने आपको कटा-सा अनुभव नहीं करता है, जिसकी शल्य चिकित्सा करने का वह इच्छुक है, वह इससे दूर रहना नहीं चाहतां अपितु इन दूरियों को पाटना चाहता है, यथार्थ और आदर्श के बीच बढ़ती दरार को भरना चाहता है, कभी-कभी यह आग्रह भी किया गया है कि व्यंग्य का अधिक सबल साधन गद्य है[54], परन्तु इन अभावों के होते हुए भी क्षेमेन्द्र की प्रतिभा ने कविता के वाहन द्वारा ऐसे कठिन विषय को प्रतिपादित करने का साहसपूर्ण चमत्कार कर दिखाया है, और उसकी कविता किसी भी रूप में निकृष्ट नहीं मानी जा सकती। ''समय मातृका'' का प्रथम श्लोक ही उसे उत्कृष्ट कविता का सृजक स्वीकारने से हिचकिचाता नहीं-

''अनंगवातलास्त्रेण जिता येन जगत्त्रयी।
विचित्रशक्तयै तस्मै नमः कुसुमधन्वने॥''

''जिसने अपने उत्तेजक अस्त्रों से तीनों लोकों को वश में कर रखा है, उस बिना शरीर के कामदेव की विचित्र शक्ति को मैं नमन करता हूं।''

जब भी कवि की कल्पना पर विषय की समीपता का कोई भी अंकुश नहीं होता, तो उसका कवि-कौशल पूरी शक्ति से चमकने लगता है। यदि कहीं-कहीं पर उसकी कल्पना के पर कुछ-कुछ कतरे से दिखाई देते हैं, तो इसमें क्षेमेन्द्र का कोई दोष नहीं, यह तो विषय की संकीर्णता है, जो उसकी कल्पना को मनचाही पैगें लेने से रोकती है। अन्यथा उसका शब्द-भण्डार बहुत ही विस्तीर्ण है, एक जीवित कोष की तरह, और इसमें कश्मीरी शब्दों का कहीं-कहीं प्रयोग इसे अधिक सजीव बनाता है। उससे प्रणीत उपमायें तथा अलंकार देशीय रंग लेकर भी सर्वव्यापी है, प्रकृति-चित्रण का यह उदाहरण कितना मार्मिक और जीवन के समीप हो पाया है-

"अर्थ सितकिरणरतिश्रमखिन्नेव विनिद्र तारकारजनी।

प्रभातिकसलिललवस्वेदवती क्षामतां प्रपयो॥"[55]

"अब तारों-भरी रात, रतजगा करती हुई, चन्द्रमा की सफेद किरणों से लगातार खेलकर, थकी हुई, धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है, और सवेरे की ओस जैसे उसके पसीने हों।"

चन्द्रिका का जादुई वर्णन उनकी लेखनी से इस तरह उभर उठा है-

"मन्मथ सितातपत्रं दिग्वनितास्फटिक दर्पणो विमला।

विरराज रजनिरमणि सिततिलको यामिनीनाय:॥"[56]

"रात का स्वामी चन्द्रमा, कामदेव की सफेद छत्री, दिशाओं रूपी सुन्दरी के लिए बिल्लौर का बना हुआ निर्मल दर्पण, रात की रानी का सफेद तिलक, बहुत ही शोभायमान हो रहा है॥"

श्रीनगर की सुषमा का बखान वह इस प्रकार करता है-

"इस नगरी में सुन्दर राजहंसों की कल-कल ध्वनि, ताज़े कमल-डण्ठल खाने से अधिक मधुर हो उठती है, और यही मीठी चहकार कमलवनों में ऐसे प्रति-ध्वनित होती है जैसे यह देवी लक्ष्मी के नपुरों की छन-छन हो।"[57]

क्षेमेन्द्र की शैली की विशेषता उसकी सरलता में है, वह कभी भी बोझिल समस्त पदों का प्रयोग नहीं करता, अत: इसकी कविता का प्रवाह अक्षुण्ण रह पाता है, और उसकी सम्प्रेषणीयता में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ता। अपने ही देश के विख्यात काव्य-शास्त्री वामन की यह उक्ति "विशिष्टा पदरचना रीति:" उनके काव्य पर ठीक बैठती है। सरल से सरल शब्दों का चयन उत्तमोत्तम पद-विन्यास का सहारा पाकर उसकी कविता को जीवन के बहुत समीप ले आता है। यहां पर भी वह अपनी यथार्थ सूझ-बूझ का परिचय देता है। उसके ग्रन्थ पण्डितों के मानसिक व्यायाम के लिए नहीं, अपितु जन साधारण के मनोविनोद के लिए प्रणीत किए गए हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज कवि ईलियट का कथन है, "कोई भी कवि अपना व्यक्तित्व प्रकाशित नहीं करता, परन्तु मात्र एक विशिष्ट वाहन।"[58] क्षेमेन्द्र की आस्थाओं का वाहन उसकी भाषा है, जो जनता की धड़कनों से समस्वर होती हुई दिखाई देती है, क्योंकि वह अपना दिल खोलकर जनता के सामने ही रखना

चाहता है, इसमें न कहीं घुमाव है, न मोड़, सीधी-सीधी बातें सीधी भाषा में पिरोकर क्षेमेन्द्र ने जीवन के यथार्थ पक्ष का सार्थक प्रतिनिधित्व किया है। संस्कृत का कोई भी अन्य कवि इस प्रकार के कुंवारे और अछूते क्षितिजों के समीप पहुंच नहीं पाया है। क्षेमेन्द्र का यही अप्रतिम योगदान उसे संस्कृत-काव्य के प्रगतिशील कवियों का अगुआ बना देता है, लोक कवि होने का सदाबहार मुकुट उसके सिर पर पहनाता है।

-0-

1. आचार्य मम्मट का ''काव्यप्रकाश'', कविराज विश्वनाथ का ''साहित्य दर्पण इत्यादि'', 2. ''औचित्य विचारचर्चा'' 3. प्रथम तरंग, 13 4. पं० मधुसूदन कौल- ''देशोपदेश तथा कर्ममाला'' की भूमिका में, 5. कश्मीर में लौकिक अथवा सप्तर्षि संवत् कलियुग के पच्चीसवें वर्ष से आरम्भ किया जाता है। ईसा सन् से इसका अन्तर 1000 वर्ष + 25 वर्ष का है. अत: 41 सप्तर्षि संवत् 1066, 6. राजतरंगिणी- V. 46, 7. राजतरंगिणी- VI, 135, 8. वही-V, 9. श्लोक 1323, 10. डा० स्तीन-राजतरंगिणी, भूमिका, पृ० 455, 11. श्रीवर-जैनतरंगिणी-1, 402, 12. 'समय मात्रिका' तथा अन्य रचनाओं में, 13. वृहतकथा मंजरी, 14. दशावतारी चरितम्, नवम् सर्ग, 15. 'चारुचर्या में', 16. देखिए पिछला अध्याय, 17. जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई शाखा, अंक 1/1/1, 18. कथासरित्सागर, 19. काव्यमाला सीरीज, 69, 20. कश्मीर रिपोर्ट, 21. काव्यमाला सीरीज, 83, 22. वहीं-27. 23. डा० शरत्चन्द्रदास-विविलोथिका इन्डिका, 24. देखिए पिछले पृ०, 25. काव्यमाला सीरीज-I, 26. कलाविलास-सर्ग II, 5-7, 27. वही, सर्ग 80. 27. कलाविलास-सर्ग 111/1 28. वहीं, 11115, 29. वहीं, I, 39, 30. वही, 10. 31. कलाविलास सर्ग-9, 6 32. वही- V, 10, 33. कागज़ के स्थान पर उस समय

भूर्जपत्र का प्रयोग होता था, 34. काव्यमाला सीरीज़-IX . 35. समय मातृका-I . 3 36. वही-VIII . 37. काव्यमाला सीरीज-2. 38. पं० मधुसूदन कौल द्वारा सम्पादित-कश्मीर रिसर्च सीरीज-40. 39-I 40. वही-III 41. वही, 42. वही XI . 18. 43. पं० मधुसूदन कौल द्वारा सं० कश्मीर रिचर्व सीरीज़-XI 44. वही VIII 45. कश्मीर सीरीज आफ टेक्सट्स एण्ड स्टडीज़, 46. नर्ममाला-I - 147, 47. काव्यमाला सीरीज़-IV . 48. वही, 49. वही, 50. ''देशोपदेश'' तथा ''नर्ममाला'' की भूमिका में कश्मीर रिसर्च सीरीज 40, पृ० 25. 51. साहित्यदर्पण-प्रथम अध्याय, 52. औचित्य विचार चर्चा- प्रथम अध्याय. 53. जे०एम० मुरे. दि० प्राब्लम आपु स्टायल, पृष्ठ 60. 54. वही, 55. समय मातृका-VIII . 56. कलाविलास. 57. वही, 58. दि प्राब्लम आफ स्टायल

खण्ड-तीन

कश्मीरी भाषा और साहित्य

- लल्लेश्वरी का रचना संसार–127
- लल्लेश्वरी के वाक्-अनुवाद समस्या–138
- नुन्द ऋषि–व्यक्ति और अभिव्यक्ति–145
- हब्बा खातून–व्यक्तित्व और कृतित्व–157
- अब्दुल अहद आज़ाद–एक अध्ययन–169

लल्लेश्वरी का रचना संसार

किसी भी देश की संस्कृति उस देश द्वारा पोषित जीवन-दर्शन से सर्वदा अनुप्राणित होती है। यह जीवन-दर्शन तब से बराबर जागृत होता जाता है, जब से मानव में आत्म और आत्मा की चेतना आन्दोलित होने के लिए छटपटाती रहती है। इसे हम आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी पाटने के लिए मानव की आध्यात्मिक थाती की परिणति भी कह सकते हैं। परन्तु यह आध्यात्मिक दौड़-धूप मानव के आत्मान्वेषण का अन्तिम सोपान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस में व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि का योगदान अधिक प्रबल रहता है, इस आध्यात्मिकता से संजोये गए जीवन-दर्शन का आकार तथा विस्तार धीरे-धीरे निखरता जाता है और समय-समय पर अवतरित सन्त, महात्मा तथा आचार्य इसे अपनी अमृतवाणी से सींचते रहते हैं, ताकि इसकी सरसता समय तथा वातावरण के सन्दर्भ में सुरक्षित रह पाये। इसके साथ ही यह कहना भी संगत होगा कि इन्हीं मानव-विभूतियों द्वारा संस्कृति तथा जीवन-दर्शन की पुनर्व्याख्या होती रहती है, ताकि मानव-सुलभ दुर्बलता इसे परमार्थ के प्रशस्त पथ से विचलित न कर पाये। गीता में श्रीकृष्ण ने जब यह सारगर्भित भविष्यवाणी की है[1] कि जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म उभरने लगता है, तो भगवान स्वयं अवतार धारण करके अधर्म को लगाम पुण्यात्माओं का परित्राण करने हेतु, तथा दुर्जनों का नाश सम्पन्न करने के लिए, हर युग में यह प्रांजल दायित्व निभाने के लिए दृढ़-संकल्प रहते हैं। यह चिर सत्य सदा अपवाद रहित होता आ रहा है।

हमारी सुरम्य घाटी में जहां प्रकृति का यौवन सदाबहार है, वहां अध्यात्म शतरंगी मौलिकता ने इसे अधिक हृदयग्राही बनाया है, शरीर का सौन्दर्य मन की प्रांजलता का संबल पाकर अधिक आकर्षक हो पाया है, स्थूल और सूक्ष्म का सुमधुर विलय यहां की सांस्कृतिक थाती को संजीवनी प्रदान करता आ रहा है, फलस्वरूप यहां के लोगों में उदारता की भावना आदिकाल से प्रस्फुटित होती चली आ रही है, जिसमें विरोध के स्थान पर समन्वय का दृप्टिकोण हमारे जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व

करता आ रहा है। इतिहास ने इस स्वस्थ मनोभावना की परीक्षा बहुत बार की है, और हर बार हम इस कसौटी पर पूरे उतरे हैं।

सर्वप्रथम नीलमत पुराण[2] के अध्ययन से हम पर यह तथ्य पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है, कि नागों का आधिपत्य हो जाने के बाद, यहां की पुरानी पैशाची संस्कृति का समूल नाश नहीं किया गया है अपितु इससे निहित विशिष्ट गुणों को अपनाया गया, इसी तरह बौद्धों के प्रति असीम श्रद्धा का प्रदर्शन किया गया जिसका अकाट्य प्रमाण महात्मा बुद्ध को अवतार स्वीकारना था। भारत के मैदानों में बौद्धों के प्रति तर्क-वितर्क का दृष्टिकोण अपनाया गया, मिठास के बदले कड़वाहट का प्रयोग किया गया, वहां कश्मीर में समन्वयात्मक नीति का पालन किया गया। बौद्धमत ब्राह्मण-धर्म के प्रति विद्रोह था, फिर भी यहां के उदार ब्राह्मण ने वह भाषा और वह दृष्टिकोण नहीं अपनाया, जो ब्राह्मणों के प्रति बौद्धों द्वारा प्रयुक्त हुआ था, क्योंकि यहां सकारात्मकता को नकारात्मकता से हर समय अधिक महत्त्व दिया गया है। इसी स्वस्थ परम्परा को लल्लेश्वरी ने चौदहवीं शताब्दी में सशक्त वाणी प्रदान की।

यह वह समय था जब कश्मीर पर मुसलमानी राज्य स्थापित हो चुका था[3], कश्मीर का राजनीतिक मानचित्र बदल चुका था, विदेशी मूल्यों की स्थापना छल तथा बल से की जा रही थी, हिंसात्मक प्रवृत्ति ताण्डव कर रही थी, कश्मीर की परम्परागत सौम्यता उग्रता में परिवर्तित होती जा रही थी, धर्म के नाम पर मानव का रक्त बहाया जा रहा था। यह लहू बहुत ही सस्ता हो रहा था। ऐसी विषम परिस्थितियों में लल्ला ने अपने अदम्य नैतिक साहस का यह जयघोष फूंक कर प्रमाण दिया–

"मो ज़ान ह्यों'द तु मुसलमान"।

"हिन्दू और मुसलमान में भेद मत करो।"

इस तरह वह साम्प्रदायिक बन्धनों से ऊपर उठकर मानव के जन्म-सिद्ध अधिकारों की संरक्षिका बन गई। वही दृष्टिकोण कश्मीर में सदा प्रतिफलित होता रहा है। वस्तुतः कश्मीर तीन विश्वधर्मों की प्रयोगशाला रह चुका है। हिन्दू धर्म, बौद्धमत तथा इस्लाम ने इसके जन-मानस पर अपनी अमिट छाप छोड़ रखी है। अतः कश्मीरी जन-जीवन में हिन्दुओं की उदारता, बौद्धों की करूणा और इस्लाम की एकनिष्ठता के दर्शन होते हैं।

परन्तु समय का स्वभाव कभी भी एक समान नहीं रहा है, इसमें कभी उग्रता तथा कभी सौम्यता का आविर्भाव होता रहा है। लल्ला के समय में देश-काल की इस सौम्यता को बहुत भारी धक्का लग गया. था, जनमानस में पुन: जीवन के प्रति उत्साह पैदा करने का दायित्व स्वत: लल्ला के हाथ लगा, और इस महायोगिनी ने यह कर्त्तव्य बहुत ही प्रांजलता से निभाया। मानव और मानव के बीच जो दरारें चौड़ी और लम्बी होती जा रही थीं, उन्हें पूरी तरह पाटने का इसने भरसक प्रयत्न किया। इस दिशा में उसकी सफलता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि कश्मीर में मुस्लिम ऋषि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक ''नुन्द ऋषि'' ने उसे अपना आदर्श समझा–

तस पदमान पोरिचि लल्ले
तऽम्य गले अमर्यथ च्यवो।
सो सानी अवतार लोले
तिथिय वर म्ये दितम दिवो ॥[1]

''पद्मपुर (पांपुर) की लल्ला ने अमृत के घूंट जी भर कर पी डांले, अत: वह हमारी पूज्यनीया बन गई। हे परमात्मा मुझे भी उन जैसे वर प्रदान करो।''

मुल्तानों के शासन-काल में कश्मीर का वर्तमान अतीत से कट जाने को विवश किया जा रहा था, परन्तु किसी भी प्रदेश की संस्कृति केवल वर्तमान के बूते पर जीवित नहीं रह सकती, यह अतीत से जीवन-श्वास लेकर भविष्य के स्वरूप में रंग भरने लगती है, इस तरह भूत, वर्तमान और भविष्य एक-दूसरे से कदापि पृथक नहीं रह सकते, समाज में वर्तमान के साथ जो अन्याय किया जा रहा था, उसके प्रति इस जागरूक नारी-विभूति ने विद्रोह किया; इस प्रकार वर्तमान को अतीत से जोड़ कर इस सचेत ललना ने कश्मीरी संस्कृति को विकृत होने से बचाया। वर्तमान वास्तव में अतीत का ही सुसंस्कृत संस्करण होता है, जिसकी नींव पर भविष्य का निर्माण किया जाता है, इस सत्य को लल्ला अच्छी तरह जानती थी, और इसे पुन: स्थापित करने के लिए इस दिव्य मूर्ति ने रोष के बदले तोष की नीति अपनाई, त्याग और आत्मोत्सर्ग के दिव्यास्त्रों से उसने मानव-मन में माधुर्य उंडेलना चाहा। इस प्रकार के दृष्टि कोण का प्रचार करके इस स्वर्गीय आत्मा ने जनता के दु:ख की कड़वाहट बहुत सीमा तक कम की, उन्हें सहनशीलता का दिव्य पाठ पढ़ाया, जीव के स्थान पर उन में परमब्रह्म के प्रति आस्था पैदा की। इस तरह सुल्तानों के

अत्याचारों की तलवार कुण्ठित हो गई, जनजीवन वर्तमान कटुता के प्रति आंखें मींच कर भविष्य की मिठास के प्रति अधिक उत्साही रहा। दु:ख अथवा सुख शरीर की अपेक्षा मन की स्थिति पर अधिक निर्भर रहते हैं, अत: शरीर की अपेक्षा करके कश्मीरियों ने मन को परास्त होने नहीं दिया। लल्लेश्वरी की यह देन अप्रतिम है।

परन्तु इस विषय में कई आलोचकों का कथन है[1] कि यह आत्मप्रवंचना थी। जीवन के यथार्थ से जूझने के लिए मनोबल की कमी थी, पलायन था; यथार्थ से होने का एक सबल प्रमाण था। इस सम्बन्ध में हम यह कहना समीचीन समझते है कि आत्म-विभोरता कदापि आत्म-प्रवंचना नहीं कहलायी जा सकती। समाज में सुधार लाने कि लिए शान्तिमय उपायों का प्रयोग करना उजला नहीं, सर्वदा बुझा-बुझा-सा रहेगा, इसमें समारम्भ की प्रवृत्ति समाप्त हो जायेगी। स्वयं लल्ला ने सम्भवत: पहले से ही इस आरोप को सूंघा था, और उसने इसका निराकरण इस प्रकार किया है–

गाल कुडिनम बोल पुरिनम

दपनम ति यस युथ रूचे।

सहज कोसमव पूज करनिम

बु अमिलानि कम क्याह मौंचे ॥[2]

"कोई मुझे अपशब्द दे, कोई मुझे बुरा समझे, जिसके मन में जो आये, वह कहे। यद्यपि कई मुझे सहजसाधना के फूलों से पूजें भी, मैं इन सब आडम्बरों से मुक्त हूं, और लोग जो मेरे विषय में कहें, उसकी मुझे तनिक परवाह नहीं।"

लल्लेश्वरी से पूर्व संस्कृति तथा धर्म का वाहन संस्कृत भाषा थी, जिसके प्रचार और प्रसार के विषय में बिल्हण् ने बड़े गर्व से कहा था कि "यहां कश्मीर में नारियां भी अपने घरों में संस्कृत और प्राकृत का प्रयोग अपनी जन्मभाषा के समान ही बड़ी सुगमता से करती है।" परन्तु अब यह अवस्था बदल चुकी थी, सुल्तानों ने संस्कृत के स्थान पर फारसी को संरक्षण दिया, अतीत से कट जाने के, लिए संस्कृत जैसे प्रबल साधन को निराश्रय बनाना सुल्तानों की राजनीति का एक शक्तिशाली अंग बन गया। लल्ला तक आते-आते यह संस्कृत की सरणी प्राय: सूख चली थी। अतीत के साथ केवल यही भाषा एकमात्र सम्पर्क का माध्यम थी, इसे इस प्रकार क्षत-विक्षत होते देखकर आखें खोलकर चलने वाली लल्ला ने अपने

सन्देश को कश्मीरी भाषा ने गूंथा और पिरोया। इस प्रकार उसने जनता की धड़कनों के साथ समीपतम सम्पर्क स्थापित करना चाहा, साथ ही संस्कृत के बुझते हुए प्रयोग में नया उत्साह भर दिया, क्योंकि कश्मीरी में संस्कृत के प्राय: तत्सम तथा तद्‌भव शब्दों की भरमार है। भाषा-शास्त्रियों के अनुसार अस्सी प्रतिशत संस्कृत के शब्द कश्मीरी में पाये जाते है, अत: यह कहना ठीक होगा कि लल्ला ने परोक्ष रूप से संस्कृत की सेवा करके वर्तमान और अतीत के सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखा। इस प्रकार कश्मीरी साहित्य की सर्वप्रथम सूत्र-धारिणी लल्ला ही कहलाई। सर्वसाधारण की भाषा को साहित्य का आधार बनाकर लल्ला ने अपनी जन्मभाषा को भी बहुत बड़ा गौरव प्रधान किया। यही कारण है कि इसे ही कश्मीरी साहित्य का पहला मील-पत्थर कहा जाता है।

लल्ला ने अपना सन्देश कविता में दिया है, और इसमें चतुष्पदों का प्रयोग किया गया है, जिन्हें कश्मीरी में ''वाख'' कहा जाता है। स्पष्टत: यह ''वाख'' संस्कृत ''वाक्'' (वाणी) का कश्मीरी तद्‌भव रूप है। कश्मीरी में प्राय: संस्कृत अथवा अन्य भारतीय भाषाओं का अन्तिम ''क'' ''ख'' में बदल जाता है, जैसे संस्कृत-''शाक'' ''हाख'' अथवा हिन्दी ''शक'' ''शख'' में परिवर्तित होता है। स्वयं लल्ला ने इस ''वाख'' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है-

गौरन दोपनम कुनुय वचुन[5]

न्यबर दोपनम अन्दर अचुन।

सुय म्ये ललि गव वाख त वचुन

तवै ह्यौतुम नो'गुय नचुन॥

''गुरु ने मुझे केवल एकमात्र उपदेश दिया-बाहर से अन्दर की ओर प्रवेश करना-यही उपदेश मुझ लल्ला के लिए गुरु-मन्त्र और उसकी टेक बना, इसीलिए मैं लोकलाज की अपेक्षा मन की मौज का हाथ थाम कर नाचने लगी।''

इस तरह लल्ला ''वाख'' शब्द को गुरु-मन्त्र का समानार्थक समझती है, और हमारे लिए उनके ''वाख'' गुरू-मन्त्र के समान ही महत्वपूर्ण हैं।

लल्ला का संदेश सीधा, सरल और मोड़रहित है, इसमें दुरूहता नाम को भी नहीं। वास्तव में वह जिज्ञासु-आत्माओं के लिए अपनी पहचान करने का आग्रह करती है, ससीम से ऊपर उठकर असीम से एक हो जाने की प्रेरणा देती है। उनके "वाख" आत्मशिक्षा और तदुपरान्त आत्म-परिशोधन के प्रतीक हैं, और इसी मानसिक अवस्था से आत्मचैतन्य प्राप्त होता है। इसे अर्जित करने के लिए मन के अड़ियल घोड़े को लगाम देनी पड़ती है और अपने में ही परब्रह्म का साक्षात्कार सुलभ हो जाता है–

च़्यथ तोरग गगन ब्रम बुड़ि

न्यमशि अकि छंड़ि यूज़न लछ।

चीतन वगि वम र'टिथ ज़ोन

प्रान अपानक फुटरिथ परख्छ॥[6]

"चित्त रूपी घोड़ा बेलगाम होकर आकाश की सैर करता है, और एक ही निमिष में लाखों योजन पार करता है, इसे जिस साधक ने सिधा कर आत्मचैतन्य के रास्ते पर डाल दिया, तथा प्राण-अपान वायु को वश में रखा, वही उस परमब्रह्म को जान सकता है।"

परन्तु आत्मान्वेषण उतना सहज नहीं, जितना हम इसे समझते हैं, यह आत्मानुशासन और मानसिक व्यायाम द्वारा प्राप्य है, इन्हीं साधनों द्वारा ससीम में ही असीम का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है। यह निरन्तर मानसिक परिश्रम है, और इससे हार मानना समीचीन नहीं।

छाड़ान लूसिस पानी पानस

छ़्यप ग्यानस वोत न कांह।

लय करमस वाच़िस मय खानस

बऽयं बऽयं बानुँ तुँ च्यवान न कांह॥[7]

"अपने में अपने-आपको खोजते-खोजते मैं थक सी गई, इस छिपे ज्ञान की थाह कोई पा न सका, परन्तु हार न मानकर मैंने इसकी तलाश जारी रखी और अन्त में असीम और ससीम के परस्पर लय होने से आनन्द मुझे प्राप्त हुआ। इस अनवरत साधना द्वारा ही में उस दिव्य मधुशाला में प्रवेश कर गई जहां मैंने ज्ञान के

भरे-भरे प्याले देखे, परन्तु उन्हें चखने वाला वहां कोई न था।''

इस आत्म-ज्ञान की अवस्था को विरला ही कोई साधक पा सकता है। इस लक्ष्य को पाने के लिए अडिग आस्था, अचंचल मन और न बुझने वाले उत्साह का होना आवश्यक है। यह मनन और चिन्तन द्वारा अर्जित किया जा सकता है, सस्ते में बिकाऊ नहीं, इस पूजा के लिए मानसिक-फूलों की अपेक्षा रहती है-

मन पुश तै यछ़ पूशानी

बावक कोसम लागज़स पूज़े।

शिवस गो'ड दिज़्यस अशि वान्ये

छ़ोपि मन्तर शंकर वुजे।[६]

''मन फूल बेचने वाला है और श्रद्धा फूल है, पूजा के लिए भावों के फूलों की अपेक्षा रहती है, उस ''शिव'' को अश्रुजल से स्नान देना चाहिए, और मौन रूप में मन्त्रों का उच्चारण करने से ही शाम्भवास्था जागृत हो सकती है।''

लल्लेश्वरी ने किसी कर्मकाण्ड का प्रतिपादन नहीं किया, और न ही किसी रूढ़िवादी मत-मतान्तर का। उसने केवल जीवन में एक स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाने का सार्थक प्रचार किया, मूर्ति-पूजा के स्थान पर उसने मानसिक पूजा पर अधिक जोर दिया। उसका दिव्य सन्देश समस्त मानव-जाति के लिए था। यह वचनामृत जात-पात, धर्म इत्यादि की संकुचित परिधि से बहुत ऊपर था। इसमें शरीर की अपेक्षा आत्मा का उन्नयन अधिक मुखर था। उनके ही शब्दों में यह ज्ञान की पराकाष्ठा इस तरह सुलभ है-

पर न पान ये'म्य सौमुय मोन

य'म्यम ह्युवुय मोन द्यन क्यो'ह राथ।

यमसिय अद्वयी मन सपुन

तमि ड्यूठ्य सुर गौर नाथ।[७]

''जो अपने और पराये में कोई भेद न करे, जो रात और दिन, दुःख और सुख को एक समान समझे, जिसका मन द्वैतरहित बन जाये, वहीं उस परम गुरू को देख पायेगा।''

विश्व-दर्शन को कश्मीर का ''शैवाद्वैत'' एक अनमोल देन है। इस कश्मीरी दर्शन के अनुसार पाशबद्ध होकर मानव जीवन कहलाता है, और पाशयुक्त होकर उसे ईश्वर की संज्ञा दी जाती है। मानव का विश्वमय रूप जीवात्मा है और विश्वोवतीर्ण रूप परमात्मा। मन में जब इच्छा, ज्ञान और क्रिया का क्रमिक विकास होता है, तो यह समीमताओं से ऊपर उठकर असीम का नाम धारण करता है। इसी मानसिक स्थिति का नाम शैवावस्था है।[10] जब भेद का उन्मूलन होकर अभेद का उल्लास हर ओर प्रज्वलित होने लगता है, शिव और शक्ति के बीच जब माया का क्षणिक व्यवधान दृष्टिगोचर होता है तो कुछ समय के लिए मन भेद की भूल-भुलैयों में खो जाता है, तब दृढ़ मानसिक संकल्प द्वारा जब माया का यह इन्द्रजाल समाप्त हो जाता है, तो शिव और शक्ति का विलय साधक को आत्मचैतन्य की अभेदावस्था पर आरूढ़ करता है।[11]

शैवमतजात-पात को नहीं मानता।[12] इसके साथ ही यह खान-पान की कट्टरता के प्रति विमुख भी है।[13] इस प्रकार यह शैव-दर्शन कश्मीरी जीवन-दर्शन का पर्याय है, और इसी मानवधर्म की प्रतिनिधि लल्लेश्वरी सच्चे अर्थों में कहलायी जाने के योग्य है। संक्षेप में हम बिना किसी अपवाद के यह कहेंगे कि अद्वैत शैव-दर्शन का कश्मीरी संस्करण लल्ला के ''वाखों'' में पूरी तरह समोया हुआ है-

मुकरस ज़न मल चो़लुस मनस
अद म्ये लबम जुनस जान।
सु यलि ड्यूठुम निशि पानस
सोरूप सु त बु नो केंह ॥[14]

''जब मन वैसे ही धुलकर साफ हो गया, जिस तरह दर्पण की मैल उड़ जाती है, तब ही मैंने असीम से ससीम की पहचान कराई। जब मैंने उसे अपने पास पाया तो वही सब-कुछ था, मेरा अस्तित्व किसी काम का न रह पाया।''

यही अनुभूति अद्वैत की चरम सीमा कहलाएगी; परन्तु इसके साथ ही यह कहना भी संगत होगा कि स्थायी संस्कृति का मूल-मंत्र समन्वय होता है। अतः लल्ला ने उस संस्कृति को वाणी दी जिसमें शैवमत, बौद्धमत तथा सूफीमत का मधुर मेल था, कश्मीरी जनमानस वास्तव में इसी त्रिवेणी से सींचता आ रहा है। इस महायोगिनी ने इस चिरसत्य को इस प्रकार मुखरित किया-

शिव वा कीशव वा जिन वा

कमलज़ नाथ दारान युस।

म्ये अबले कास्त्यन बवरूज़

सु वा सु वा सु वा सू॥[15]

"वह असीम शिव, केशव अथवा बुद्ध, या ब्रह्मा नाम धारण करे, इन में कोई एक ही मुझ अबला की भवरूजा का हनन करे। मेरे लिए सब एक समान है।"

लल्लेश्वरी ने इस प्रकार अपने मन की खिड़कियां सदा खुली रखीं, और जहां से भी कोई स्वास्थ्यवर्धक बयार आई उसे अपने में समो लिया इसी चमत्कार के कारण उनके "वाख" समस्त कश्मीरी जनता के लिए एक समान श्रद्धा के पात्र बन गए। सम्भवत: उनके दिव्य सन्देश का सार इस "वाख" में निहित है-

साह्यब बिहिथ पानु दुकानस

सारी मंगान केंछ़ा दि।

रोट न कांह ति रोछ तु बानस

यि च़्ये गछ़ि ति पानै नि॥[16]

"वह अव्यक्त-असीम स्वयं अपनी दुकान पर बैठा है, सब जिज्ञासु उससे कुछ न कुछ मांग रहे है, यहां कोई कोक नहीं, और न ही दुकान का कोई रखवाला है, जो तुम्हें प्रिय है, उसे तुम स्वयं अर्जित करके ले लो।"

इस अवस्था को पाने के लिए परोपजीवी बनना श्रेयस्कर नहीं, इसे स्वयं कमाना पड़ता है। निरन्तर अभ्यास द्वारा ही यह अमृत प्राप्य है। इस रास्ते पर बिचौलियों से काम नहीं निकल सकता। मन को अनुभवों की सान पर चढ़ा कर इनमें इतनी मैल रहित चमक पैदा करनी अभीष्ट है कि जिससे अनुभूति परिपक्व होकर आत्म-चैतन्य से परम लाभ प्राप्त कर सके। इस लक्ष्य पर पहुंचने के लिए कोई अन्य छोटा-सा रास्ता नहीं, लम्बा होकर भी यह कठिन नहीं, इसे पाने की चाहत जितनी तीव्र होगी, उतनी ही जल्दी आत्म-लाभ सम्भव है। शर्त केवल इतनी है कि मन की यह चिनगारी सदा जीवित रहे।

लल्ला के विषय में हमें शुद्ध ऐतिहासिक सामग्री अभी तक प्राप्य नहीं। उनके जीवन के सम्बन्ध में लोक परम्परा तथा किंवदन्तियों का अधिक जोर रहा है,

यही बात उनके "वाखों" के सम्बन्ध में भी दुहरायी जा सकेगी। मौखिक रूप में प्रचलित होने के कारण हम विश्वास से नहीं कह सकते इनमें कौन सी "वाख" मौलिक है और कौन से प्रक्षिप्त। जम्मू कश्मीर-राज्य की कल्चरल अकादमी ने 1975 ई० में इस योगेश्वरी के "वाखों" का एक अधिकृत तथा प्रामाणिक संस्करण तैयार करवाया है, जिसके सम्पादक प्रो० जियालाल कौल तथा स्व० प्रो० नन्दलाल कौल "तालिब" है। ये दोनों महानुभाव कश्मीरी उर्दू तथा अंग्रेजी के निष्णात पण्डित हैं। इस सन्दर्भ में यह कहना भी उचित होगा कि अठारहवीं शती के पूर्वार्थ में राजानक भास्कराचार्य ने साठ लल्लवाखों का संस्कृत रूपान्तर किया था, उन्हें अपेक्षाकृत मौलिक समझना ठीक रहेगा।[17]

हमें यह देखकर आश्चर्य होता है, कि कश्मीर के संस्कृत इतिहासकारों ने लल्लेश्वरी का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। द्वितीय राजतरंगिणी के रचयिता जोनराज ने एक यौगिनी-चक्र के सम्बन्ध में हमें बताया है, जिसकी नायिका ने सुल्तान अलाउद्दीन के पुत्र राजकुमार शहाबुद्दीन को एक मदिरा का प्याला पिलवाया था और साथ ही यह भी भविष्यवाणी की थी कि राजकुमार आगे चल कर एक प्रसिद्ध विजेता बनेगा।[18] इस नायिका को कई विद्वान लल्लेश्वरी मानते है, जबकि जोनराज ने उसका कोई नाम नहीं दिया है। जोनराज लल्लेश्वरी का लगभग समकालीन था, परन्तु इसके प्रति उसका मौन समझ में नहीं आता, विशेषकर जब इस इतिहासकार ने लल्ला के कनिष्ठ समकालीन "मुल्ला नूरदीन" (नुन्द ऋषि) का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है।[19] इस विषय में हम केवल इतना कहेंगे कि कल्हण् ने भी विख्यात शैवाचार्य अभिनवगुप्त के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है, परन्तु शैवाचार्य अभिनवगुप्त परन्तु अपनी विदग्ध रचनाओं के आधार पर कश्मीर में सदा जीवित रहेगा। इसी तरह लल्ला अपने "वाखों" के बूते पर कश्मीरी परम्परा से कभी अलग नहीं हो सकती।

इसके विपरीत पारसी इतिहासकारों ने लल्ला का नाम लिया है और इसके योगिनी होने की पुष्टि भी की है।[20] सर्वप्रथम हमें "इसरारूल अबरार" नामक फारसी इतिहास में लल्लेश्वरी का नाम स्पष्ट रूप से मिलता है, और उसे "योगिनी" के नाम से अभिषिक्त किया है।[21] इसके अतिरिक्त अन्य फारसी इतिहासों में भी लल्ला का उल्लेख मिलता है। जो घटना जोनराज ने अंकित की है उसमें मदिरा के स्थान पर दूध अथवा शरबत का प्रयोग किया गया है, शेष वृत्त वैसे का वैसा है। यह परिवर्तन सम्भवत: इसलिए किया गया है कि इस्लाम में मदिरापान वर्जित है। इस

प्रकार यह तथ्य साफ हो जाता है कि लल्लेश्वरी कश्मीर में चौदहवीं शताब्दी में मौजूद थी, और अपनी दिव्य वाणी से कश्मीरियों के मन और मस्तिष्क को बराबर सींचती जा रही थी, यही कारण है कि उसे हिन्दू तथा मुसलमान ने एक समान श्रद्धा और भक्ति से सम्मानित किया।

वितस्ता की बनती-संवरती रूपहली लहरियों की सरगम जब तक सुव्यवस्थित रहेगी, जब तक यहां की गगनचुम्बी शैलमालाओं के उन्नत मस्तक पर कुंवारी बर्फ की अप्रतिम छटा अक्षुण्ण रहेगी, तब तक निस्सन्देह लल्लेश्वरी के ''वाख'' कश्मीरियों के लिए एक सुरक्षित निधि का आदर पाते रहेंगे।

-0-

---

1. भगवद्गीता- ।11/, 7-8, 2. डा० वेदकुमारी द्वारा सम्पादित, श्लोक 365-366, 3. द्वितीय राजतरंगिणी, जोनराज कृत, श्लोक 203-205 4. नूरनामा-श्री अमीन कामिल द्वारा सम्पादित, श्रुक नं० 33, 5. वाक्य लल्लेश्वरी (उर्दू), वाख नं० 70, 2. अभिनवगुप्त रचित ''तन्त्रसार'', 3. ''शिव सूक्त विमर्शिनी, क्षेमराजकृत, 4. ''पंचस्तवी'', 1,14, 5. ''परामार्थसार'', अभिनवगुप्त कृत 6. वाक्य लल्लेश्वरी (उर्दू) वाख नं० 31, 7. वही वाख नं० 57, 8. वहीं, वाख नं० 21 9. वाक्यलल्लेश्वरी (उर्दू), वाख नं० 70. 10. अभिनवगुप्त रचित ''तंत्रसार'', 11. शिव सूत्र विमर्शिन-क्षेमराजकृत, 12. पंचस्तवी, 13. परमार्थसार, अभिनवगुप्तकृत, 14. लल्लपद- प्रो० जे०एल० कौल द्वारा सम्पादित वाख नं० 100, 15. वाक्यलल्लेश्वरी-वाख नं० 90, 16. वही वाख नं० 78, 17. राजकीय रिसर्च पुस्तकालय में पाण्डुलिपि सुरक्षित, 18. पं० श्रीकण्ठ कौल द्वारा सम्पादित श्लोक नं० 348,18. पं० श्रीकण्ठ कौल द्वारा सम्पादित श्लोक नं० 673, 19. ''नवादिर अख्बार'' रफीदीन गाफिल द्वारा रचित, राजकीय रिसर्च पुस्तकालय में फोटोस्टेट नं० 69, ''वाक्याति कश्मीर'', आजुम देदमरी द्वारा लिखित, पाण्डुलिपि नं० 5191, ''तारीख कबीर'', महीउल्दीन मिस्कीन द्वारा रचित, पाण्डुलिपि नं० 5284, इत्यादि, 20. बाब दाऊद मिश्काती द्वारा प्रणीत पाण्डुलिपि नं० 4. (समय सन् 1654)

लल्लेश्वरी के वाक्-अनुवाद-समस्या

लल्लेश्वरी कश्मीरी अन्तरात्मा की सबसे सशक्त प्रतीक हैं। कश्मीर की प्राणदायिनी प्रकृति के परिवेश में बनती-संवरती परम्पराओं, आस्थाओं और जन-विश्वासों को इस सजग कवयित्री ने अपने मन के उबाल का गतिशील संबल देकर आने वाली पीढ़ियों के लिये अप्रतिम धरोहर के रूप संजोकर रखा है। कश्मीर की धड़कनों का मधुर संगीत उनकी मर्मस्पर्शी वाणी द्वारा जन-मानस के लिये संजीवनी जुटाने का दायित्व चौदहवीं शती से बराबर आज तक संवेदनशील भावात्मकता से निभाता आ रहा है। कश्मीर की विलक्षण प्रतिभा को समझने के लिये इसी कारण उनके 'वाकों' अथवा चौपदों का अध्ययन करना अनिवार्य सा बन जाता है।

कश्मीर की बहुमुखी मेधा ने विश्व-मनीषा को अभेदात्मक शैवदर्शन की अमूल्य भेंट प्रदान की है। इस जीवन-दर्शन में शिव और शक्ति, विश्वोत्तीर्णता तथा विश्वमयता, अव्यक्त और व्यक्त तथा एकता में अनेकता का मधुर समवाय देखने को मिलता है। वसुगुप्त, अभिनवगुप्त आदि शैवाचार्यों ने संस्कृत भाषा में जिस शैव-धर्म का प्रतिपादन किया है उसी को योगेश्वरी लल्ला में लौकिक भाषा कश्मीरी के माध्यम से अपने चौपदों 'वाकों' में समो कर रख दिया है, अत: कश्मीर इस अप्रतिम देन को यथेष्ट रूप में हृदयंगम करने के लिये इन 'वाकों' का अनुवाद करना अपेक्षणीय बन जाता है, और इस दिशा में सन् 1700 ई० से ही बहुत ही प्रांजल प्रयोग हो चुके है। परन्तु इसके साथ ही यह कहना भी समीचीन दिखाई देता है कि इस अप्रतिम नारी-विभूति ने शैव-दर्शन की तीनों अवस्थाओं अणु, शक्ति, शिव अथवा पशु, पाश तथा पति का क्रमबद्ध रूप से निरुपण किया है, अत: इन 'वाकों' को एक दूसरे से पृथक् समझना भ्रान्ति का परिचायक होगा, ''लल्ल वाकों'' का सार्थक अनुवाद इसी दृष्टिकोण के प्रकाश में किया जाना अधिक श्रेयस्कर होगा। दुर्भाग्य से राजानक भास्कर के अतिरिक्त किसी भी अनुवादक ने

इस तथ्य की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है और इसी कारण उनके विभिन्न भाषाओं में रूपान्तर भ्रामक होने के साथ-साथ दोषपूर्ण भी हैं, क्योंकि लल्लेश्वरी जिस अन्तर्मुखी साधना को मुखरित करना चाहतीं थीं, वह अनुवादों द्वारा पूरा नहीं हो सका है।

लल्ला योगिनी के 'वाकों' का आज तक प्राप्य सर्वप्रथम अनुवाद संस्कृत में राजानक भास्कर ने किया है, स्वयं शैव-दीक्षा से विभूषित इस विदग्ध आचार्य ने इन 'वाकों' की भावप्रवणता को अच्छी तरह समझा है, इसीलिये उनके द्वारा सम्पादित अनुवाद 'लल्ला' के सन्देश की संस्कृत में प्रतिध्वनि हैं। उन्होंने केवल साठ वाकों का अनुवाद किया है, जिससे यह अनुमान लगाना सहज बन जाता है कि सत्रहवीं शताब्दी तक यही साठ 'वाक' प्रामाणिक समझे जाते थे। साहित्यकारों के लिये उनकी असीम लोकप्रियता वरदान के स्थान पर अभिशाप ही बन पायी है, क्योंकि उनकी रचनाओं में लुक-छिपकर प्रक्षिप्ताशों का आ जाना बहुत ही सुगम बन जाता है। कवि शिरोमणि कालिदास भी इस अन्याय से नहीं बच पाये हैं और यही अनाधिकार चेष्टा लल्ला के 'वाकों' में साफ तौर से झलकती है, अत: संगत यही होगा कि राजानक भास्कर के साठ वाक ही प्रामाणिक मान लिये जायें, उनके ही आधार पर लल्ला के कृतित्व और व्यक्तित्व का परिचय दिया जाये। राजानक भास्कर ने किस तरह लल्लेश्वरी द्वारा प्रतिपादित केन्द्रीय भाव को परिपूर्ण रूप से ग्रहण किया है, उसका सजीव उदाहरण यह संस्कृत श्लोक है:-

"चिदानन्दो ज्ञानरूप: प्रकाशख्यो निरूमय:।
यैलब्धो देहवन्तोऽपि मुक्तास्तेऽन्येऽन्यथा स्थिता:॥"

मूल 'वाक' इस तरह दिया गया है-

चिदानन्दस् ज्ञानप्रकाशस्
यिमौ च्यूनुय तिम जीवन्ती मुक्ती।
विषमिस् संसारनिस् पाशस्
अबुद्धव् गण्डशत् शत् दितिय्॥

यहां पर लल्ला ने जीवन्मुक्तावस्था की बहुत ही सरल-सीधे ठङ्ग से व्याख्या की है। शैव-मत के अनुसार जब मन संकल्प और विकल्प की परिधि

से परे हो जाता है तो ज्ञान की दिव्य ज्योति का उन्मेष होता है, जो साधक इस मन:स्थिति का अनुभव करे वही जीते जी जन्म और पुर्नजन्म के बन्धन से ऊपर उठता है, परन्तु जो इस साधना से अपरिचित हैं वे इस विषम संसार के बन्धनों में सदा जकड़े रहते हैं। यहां पर वास्तव में योगेश्वरी ने आणवावस्था और शांभवावस्था का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट किया है। खेद से कहना पड़ता है कि भास्कर के बाद आने वाले अनुवादकों ने शैव शास्त्र के मूल सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर इन "वाकों" का अनुवाद नहीं किया है। भास्कर राजानक के संस्कृत अनुवाद के पश्चात् हमें Dr. Barnett और Dr. Grierson द्वारा सन् 1967 ई० में प्रकाशित इन वाकों का आङ्गलानुवाद प्राप्त है; इन महानुभावों के बाद स्व० पं० आनन्द कौल बामजई ने भी वाकों का अंग्रेज़ी भाषा में सन् 1921 ई० में रूपान्तरण किया है, परन्तु आङ्गलभाषा में शैव के पारिभाषिक शब्दों का यथोचित अभाव होने के कारण ये दोनों आङ्गलानुवाद त्रुटिपूर्ण हैं। शैवदर्शन की विस्फारत्मकता इस संकुचित अनुवाद-माध्यम द्वारा दब सी गई है।

तत्पश्चात् स्व० श्री सर्वानन्द चरागी ने ट्रस्ट पब्लिशिंग हाऊस के तत्त्वाधान में सन् 1936 ई० लल्लेश्वरी के वाकों का हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रकाशित किया, यह मात्र शाब्दिक अनुवाद है और इन काव्यों की गरिमा को प्रस्फुटित करने का इस अनुवाद में कोई प्रयास नहीं किया गया है, कुल मिलाकर इस भावानुवाद की प्रतिच्छाया ही कहा जायेगा। आगे चलकर स्व० पं० आप्ताभकौल वाँचू इस संकलन में कई और वाक जोड़कर इसे सन् 1945 ई० में पुन: प्रकाशित किया।

इन वाकों के अन्वेषण तथा सम्पादन के प्रति पं० जियालाल कौल जलाली की लगन स्तुत्य है, परन्तु जो नये वाक उन्होंने 'लल्ला' का नाम देकर सन् 1965 ई० में प्रकाशित किये हैं, उनकी मौलिकता के प्रति वे मौन हैं किसी महात्मा द्वारा सुनकर अथवा स्व० पं० रामचन्द्र मल्ला के सौजन्य से प्राप्त ये वाक् मौलिक नहीं कहे जा सकते, उन्होंने इन्हें परखने के लिये क्या मापदण्ड अपनाये महामहोपाध्याय जलाली महोदय ने इस आवश्यक तत्त्व को उपेक्षित रखा है। उनका अनुवाद बहुत ही संक्षिप्त है जो मूल वाकों की गहनता को और भी क्लिष्ट बनाता है, जैसे इस वाक् के अनुवाद से स्पष्ट हो जाता है:-

''वाव तु ग्राया पानस बुद्धि म्ये' वानस डीठिम सारि रंग, वस।

ध्यानस अन्दर दमृदमृ मीलिथ गौनन त्रोवुम मुचरिथ बर॥

अब अनुवाद का अवलोकन कजिये:-

''अपने देह में पवन की हरकत देखी, दुकान पर नाना प्रकार की वस्तुएं देखीं, ध्यान में क्षण क्षण उसी के साथ लय हो गई, तीन गुणों के लिये किवाड़ खोल दिया।''

वास्तव में इस वाक् में प्राण तथा अपान वायु के निरोध से कुंडलिनी शक्ति के प्रादुर्भाव की मार्मिक व्याख्या की गई है, जिसकी इति त्रिमृणतीत बनने से सम्पन्न होती है, परन्तु प्रस्तुत अनुवाद में इस मूल तत्त्व के प्रति कहीं भी संकेत नहीं।

1975 ई० में राजकीय कल्चरल अकादमी द्वारा लल्ला के वाकों का एक अधिकारिक संस्करण प्रो० जियालाल कौल तथा स्व० प्रो० नन्दलाल तालिब की सहायता से तैयार करवाया गया। प्रो० कौल महोदय ने इन संस्करण की भूमिका बहुत ही विद्वत्तापूर्ण पद्धति को अपनाकर अंकित की है, प्रो० तालिब ने कौल महोदय के इस पांडित्य से कोई भी लाभ न उठाकर लल्लेश्वरी के वाकों का उर्दू भाषा में मात्र शब्दानुवाद किया है, उदाहरणार्थ यह वाक और इसका उर्दू पद्यानुवाद देखिये:-

आमि पन सो'दरस नावि छस लमान
कति बोजि दय म्योन म्यति दियि तार।
आम्यन टाक्यन पोन्य ज़न शमान
ज़ुव छुव बमान गरुं गछ़हा॥

कच्चे धागे की मदद से नाव खेती हूं मैं
दरमियान दरिया के मुतवातिर जो डांवाडोल है।
काश सुन पायें मेरा मालिक मेरी आवाज़ अब
और उतारे पार मुझको अपने रहमोफज़ल से

हाल अपना क्या सुनाऊं कुछ कहा जाता नहीं !

मैं हूं इक कच्चा-सा बर्तन जो नया मिट्टी का हो

और जिसमें पानी रिसता रहता हो आठों पहर

रुह को ख्वाहिश है पाये यह अपना असली मुक़ाम।''

यदि इस 'वाक' में व्यवहृत लाक्षणिक प्रयोगों के प्रति थोड़ी-सी सावधानी बरती जाती वो अर्थ का यह अनर्थ देखने को न मिलता। वास्तव में यहां पर लल्लेश्वरी ने 'आणवावस्था' का रोना रोया है: संसार की असारता के प्रति संकेत दिया है, और इसके साथ ही 'पशु' से 'पति' बनने के लिए दैवी अनुग्रह या 'शक्तिपात' का आवाहन किया है, प्रस्तुत अनुवाद में इस गहन-गम्भीर विषय का निरूपण स्व० विद्वान अनुवादक ने कहीं पर भी नहीं किया है, इस वाक में गूंथे गए साधारण शब्दों की तह के अन्दर से एक ऐसी व्यंजना फूट निकलती है जो शैव-धर्म का प्रारम्भिक पाठ है। इसके अतिरिक्त 'श्मान' का अर्थ यहाँ पर 'रिसने' से लगाया गया है, जबकि काश्मीरी तथा संस्कृत में भी इसे 'जज्ब' होने के अर्थ में समझा जाता रहा है।

स्व० दुर्गा प्रसाद काचरु तथा डॉ० शशिशेखर तोषखानी द्वारा यत्र-तत्र फुटकर रूप में इन 'वाकों' के अनुवाद भी हमें मिलते हैं जो लल्ला के मूल व्यक्तित्व को समझने में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। इन विद्वानों का ऐसा अभूतपूर्व प्रयास सराहनीय है।

शैव-शास्त्र की भित्ति इच्छा, ज्ञान और क्रिया के तिकोण पर खड़ी है, और इन्हीं क्रमबद्ध मानसिक दृष्टिकोणों की परम योगिनी लल्ला ने अपने चुभते चौपदों में पिरो कर रख दिया है, आवश्यकता इस बात की है कि इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत लल्ला के वाकों का एक नवीन संस्करण तैयार किया जाये, इस प्रकार उनके 'वाक' तीन खण्डों में बड़ी ही सतर्क क्रमबद्धता के आधार पर विभक्त किए जाएं ताकि यह कहना नितान्त हास्यास्पद प्रतिभासित होने लगे कि लल्लेश्वरी के 'वाकों' में कोई भी तारतम्य नहीं, ये नितान्त मुक्तक हैं। परन्तु जो कोई भी व्यक्ति शैव-दर्शन की सूक्ष्मता तथा गहनता से सुपरिचित हो, वह इन 'वाकों' में प्रबन्धात्मक सौष्ठव को ग्रहण तथा अंकित करने में अनायास ही सफल हो पाता है,

सम्भवत: इस खण्ड विभाजन की रूपरेखा इस तरह संजोयी जा सकती है, ऊपर दिये गये 'वाक' के अतिरिक्त इस 'वाक' की भी 'इच्छा खण्ड' के अन्तर्गत रखा जा सकता है:-

"लल बो द्रायस लोलरे

छाँडान लूसुम द्यन क्यो राथ।

वुछुम पण्डिथ पननि गरे

सु म्ये रोट्मस न्यछत्र तुॅ साथ॥"

"मैं लल्ला उन शिव की खोज में अत्यन्त भावप्रवण ममता से निकल पड़ी, मैंने उस सर्वज्ञ तत्त्ववेत्ता को अपने ही अन्दर पाया; और उसी समय मैंने उस शुभ-घड़ी को हाथ से जाने न दिया।"

'इच्छा' शैव-शास्त्रों के अनुसार कु-भेद का हनन करने वाली-मारी-है, अत: इसे 'कुमारी' की संज्ञा दी गई है, लौकिक अर्थ में इच्छा हर समय नित-नवीनता से ओत-प्रोत होकर कुंवारी ही होती है, हर एक विचार अपने में नयापन ले आता है, इसलिए इच्छाओं का यह क्रम एक इच्छा की पूर्ति के बाद दूसरे विचार की भाव-भूमि संजोता है, अत: कभी टूटता नहीं, जब 'इच्छा' की परिणति 'ज्ञान' में होने लगती है, तो लल्लेश्वरी का यह अनुभव-अनुभूति रंजित स्वर सहज ही समझ में आ जाता है:-

लोक कि वोखलुॅ वोलिंज पिशिम

कों कल च्यजिम तॣ रूज़िम रसॣ।

बुज्जिम तॣ ज़ाजिम पानस च्रिशिम

को बानॣ तवॣ सीति मरॣ किनॣ लसॣ॥"

"मैंने अपना कलेजा ममता की ओखली में पीस डाला, और इस तरह सांसारिकता की अमंगलदायिनी चाह शान्त होकर मुझमें शिव की एकरसता का अभिषेक करने लगी। इन ज्ञान का अर्जन मैंने नाना प्रकार के आयासपूर्ण प्रयोगों द्वारा आत्मसात कर डाला, इसी मनस्थिति ने मुझे जन्म और मरण से ऊपर उठा लिया, जीवन्मुक्त बना दिया।"

ज्ञान का उदय होते ही अणु पाशबद्धता को तिलाञ्जलि देकर पाशमुक्त होने के लिए एकाग्र भाव से मानसिक क्रिया में जुट जाता है:-

"परुन पोलुम अपोरुय पौरुम
केसर वन् वोलम रेटिथ शाल।
परस पौंरुम त पानम पोलम
अद् मोम मोलुम तु जॉन्यिम हाल॥"

"जो शिक्षा मैंने ग्रहण की थी, जिस ज्ञान का अर्जन मैंने किया, उसे मैंने क्रियान्वित किया, और जो शिक्षा मुझे अनुग्रह द्वारा प्राप्त हुई थी उसे मैंने अच्छी तरह बाँच लिया, और इसी सतत क्रिया-साधना द्वारा मैंने वन्य सिंह के समान मन को गीदड़ की तरह वश में कर लिया, जो कोई भी उपदेश मैंने दूसरों को दिया, उसका समूचा पालन मैंने स्वयं पहले किया, तब मैं सब कुछ जान गई और इस तरह मैंने जीवन की बाजी जीत ली।"

लल्लेश्वरी की अमृत-वाणी में एक ऐसा धारावाहिक उल्लास है जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सक्रम तथा सक्रिय स्पंदन करके हमारे मन और मस्तिष्क को एक जैसे माधुर्य से भिगोने का भगीरथ संकल्प करता आ रहा है। अत: इन 'वाकों' का अनुवाद करते समय इस मूल-तत्त्व को उपेक्षित रखना अपनी थाती से विद्रोह करना ही कहलायेगा॥

·0·

नुन्द ऋषि-व्यक्ति और अभिव्यक्ति

कश्मीर में सुलतानी राज्य स्थापित होने के बाद भी आध्यात्मिकता का दीपक दुगुने उत्साह से चमकने लगा, इसी युग में लल्लेश्वरी महायोगिनी ने शैव-दर्शन को कश्मीरी रूप देकर जनता को, विशेषकर हिन्दुओं के ढहते विश्वास को एक यथोचित संबल प्रदान किया, जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करके इन नारी विभूति ने हिन्दुओं में फिर से जीवन के प्रति आत्मा पैदा की, और मुसलमानों को भी अप्रतिम सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया, अभी तो आज तक बराबर कश्मीरी जनता इनकें अपूर्व व्यक्तित्व और शाश्वत संदेश को पूजती चली आ रही है।

मगर हमें यह तथ्य स्वीकार करना होगा कि कश्मीर में मुस्लिम शासन स्थापित होने के बाद जीवन का स्वरूप-शान्त रूप कुछ-कुछ बिखरने लगा, विशेषकर ईरानी सूफियों के यहां आ जाने से धर्म-परिवर्तन की प्रवृत्ति अधिक प्रखर हो उठी। हिन्दू-जनता पर आतंक छा गया और वे अपने आपको निस्सहाय-तो समझने लगी।[1] इसी धर्म-संकट में कश्मीर के ऋषि-सम्प्रदाय ने अपना दैवी दायित्व पूरा किया।

विधि की विडम्बना से यह क्षत्रिय सम्प्रदाय हिन्दू-परम्परा की अपेक्षा मुसलमानी जीवन-दर्शन में अधिक प्रेरणा लेता रहा। वेदों का आविर्भाव तो ऋषियों की उपजाऊ प्रतिभा का ऋणी है, रामायण और महाभारत काल में हमें बहुत ऋषियों का परिचय मिलता है, वसिष्ठ और विश्वामित्र वैदिक ऋषि होकर भी रामायण में बहुत ही ऊंचा स्थान रखते हैं। यही हाल महाभारत का भी है; और आगे चल कर इन ऋषियों का इतना प्रभाव छा गया कि वे राजा के परामर्शदाता बन गए, और उनकी मन्त्रणा किसी भी विषय पर अन्तिम समझी जाने लगी। कश्मीर के इतिहास में हमें ''नीलमतपुराण'' में केवल एक ही ऋषि ''कश्यप'' का नाम मिलता है, यहां के राजाओं ने इस ऋषि-परम्परा को कोई भी प्रोत्साहन नहीं दिया, ले--दे कर कुछ सिद्ध और

आचार्य हमें कल्हण को राजतरंगिणी में मिलते हैं।[2] परन्तु मुस्लिम-शासन के अन्तर्गत इस परम्परा को जागृत होना बादलों में बिजली की क्षणिक कड़क के समान दिखाई देता है, परन्तु इस परिवेश में वह लिखना समीचीन दिखाई देता है कि लोक-जीवन में "ऋषि" शब्द बहुत लोकप्रिय रहा होगा, फारसी अथवा सूफी साहित्य में जिन महान् आत्माओं का "दरवेश"[3] नाम की संज्ञा दी गई है, उसी का कश्मीरी रूपान्तर "ऋषि" माना गया। इस सम्प्रदाय से जीवन-श्वास ग्रहण करने वाले मनीषी सन्तोष, इच्छाओं का हनन, परोपकार और परमार्थ में अडिग विश्वास रखते थे। राजनीति को ऐन्द्रजालिकता से ऊपर उठकर वे केवल समाज-सेवा को ही अपने जीवन का परम ध्येय समझते थे, शरीर की अपेक्षा दे आत्मा को अधिक महत्त्व देते थे; और परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए आत्मा को ही सबल माध्यम समझते थे, इसीलिए उनके सन्देश में आध्यात्मिकता का स्वर मुखर हो उठा है, संसार की असारता का विलाप तो उनकी कविता का प्रधान विषय है। इन मुसलमान सन्तों ने ऋषि शब्द को अपनाकर कश्मीर की प्राचीन चिन्तनधारा से अपने आपको कभी भी अलग नहीं समझा। इस प्रकार सूफियों की उग्रता का प्रत्युत्तर इन विदग्ध परमार्थ-सेवियों ने अपनी उदारता और सौम्यता से दिया। कश्मीर के सांस्कृतिक इतिहास में इसीलिए इनकी देन अप्रतिम है। ऋषि-सम्प्रदाय तो वास्तव में कश्मीर की सांझी संस्कृति का उज्जवल प्रतीक है, और उसके साथ ही सूफियों की कट्टरता के प्रति सजग प्रतिक्रिया।[4]

इस सम्प्रदाय के प्रकाश-स्तम्भ "हजरत नूरदीन नूरानी" माने जाते हैं, जिन्हें कश्मीरी अगाध ममत्व के कारण "नुन्द ऋषि", "शेरकुल-आलम्" अथवा "अलमदारि कश्मीर" के स्नेहसिक्त नामों से पुकारते हैं, यद्यपि इन्होंने अपने से पूर्व बहुत से ऋषियों का नाम लिखा है, और अपने आपको इस जीवन-दर्शन का प्रवर्तक नहीं माना है, परन्तु हमें यह कहने में कोई भी आपत्ति नहीं कि "नुन्द ऋषि" के आविर्भाव से ही इस सम्प्रदाय को लोकप्रियता मिल पाई, वे हजरत मुहम्मद पैग़म्बर इस्लाम को इस सम्प्रदाय अथवा चितनधारा का आदिस्रोत मानते हैं[5], जिससे यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि इन्होंने हजरत मुहम्मद की कुरानी-शिक्षा की सरल-स्निग्धता के अनुरूप ही पुनर्व्याख्या की, सूफियों ने जिस इस्लाम को जनता के सामने रखा था, वह उग्र था, प्रचण्ड था, अत: इस मुसलमानी जीवन-दर्शन का यथार्थ और उज्जवल रूप जनता के सामने ले जाने की अतीव आवश्यकता

अनुभव की जा रही थी। इस कर्त्तव्य को शेख नूरदीन वली अथवा नुन्द ऋषि ने पूरा किया, घनावने अन्धकार में फिर से भाईचारे की जोत जल उठी।

"नुन्द ऋषि" का जीवन-वृत्त अभी भी इतिहास के धुंधलकों में छिपा हुआ है, प्रामाणिक रूप में इसका जीवन वृत्त तो लिखा ही नहीं गया, उनके ईश्वर-प्रेम पर ही उनके भक्तों की लेखनी केन्द्रित हो गई; सचमुच तो ऐसे दिव्य-पुरुषों का सन्देश ही उनका जीवन परिचय हुआ करता है। उनके शिष्यों द्वारा प्रणीत "ऋषिनामों" के आधार पर, और अन्य लौकिक परम्परा के अनुसार हम उनके जीवन-वृत्त के बिखरे सूत्र इस प्रकार जोड़ सकते हैं।[6] कहा जाता है कि इनके पूर्वज "किश्तवाड़" के राजा थे। इनका नाम "सलरसेन" था। विषम परिस्थितियों ने इन्हें अपनी जन्मभूमि छोड़ने पर बाध्य किया और वे कश्मीर एक शरणार्थी के रूप में आ गये। यहां के शासक ने उनका यथोचित सम्मान किया और इन्हें "रोपवन" नाम वाला गांव जागीर के रूप में प्रदान किया। इनके पुत्र द्रुपदसेन थे, द्रुपदसेन के पुत्र जंगसेन, उनके पुत्र हुनरसेन, उनके पुत्र उग्रसेन, और उनके गोसलरसेन थे। यह वात्मन ऋषि द्वारा इस्लाम में दीक्षित किए गए, नाम पड़ गया सलारदीन, इनका विवाह "दस्दीमांज" से हुआ, और इन्होंने "केयनुह" नाम गांव में अपना आवास बनाया। इसी दम्पत्ति ने "नूरदीन" नाम बाले पुत्र-रत्न को जन्म दिया, समय सन् 1376 ई० था।

वंशवक्ष — सलरसेन
|
द्रुपदसेन
|
जंगसेन
|
हिन्दू — हुनरसेन
|
उग्रसेन
|
गोसलरसेन सालारदीन
|
मुसलमान-- नूरदीन सन् 1376 ई०

नूरदीन का विवाह "यह" नाम खातून से हुआ। इनकी आयु इस समय के केवल तेरह वर्ष थी। छ: वर्षों के अनन्तर इन्हें एक लड़की और एक

लड़का पैदा हुआ जिनके नाम क्रमश: "जून-तथा "हैदर" थे, अलमदारि कश्मीर के सगे-सम्बन्धी तस्करी का दूषित काम करते थे, और वे इन्हें भी इस कटुव्यापार में सम्मिलत करना चाहते थे, परन्तु इसके शुद्ध अन्त:करण ने इस कुकुर्म से विद्रोह किया, फलत: उन्हें अतीव विपन्नता में दिन गुजारने पड़े। माता इन्हें जुलाहा बनाना चाहती थी, परन्तु इस की ओर भी "नुन्द ऋषि" ने कोई उत्साह नहीं दिखाया।

निदान "नुन्द ऋषि" ने संसार का त्याग किया; और साधना में लग गये; गुफाओं और कन्दराओं में एकान्त प्राप्त करके इन्होंने आत्मानुशासन द्वारा ज्ञान का उपार्जन किया, उन्हें दिव्य-दृष्टि वरदान रूप में मिल गई; इस प्रकार भगवद्-प्राप्ति के गहन आनन्द के योग्य-पात्र बनने के कारण हिन्दुओं ने उन्हें "सहजानन्द" नाम से विभूषित किया।[7]

"नूरदीन" के सम्बन्ध में प्रथम (अन्तिम भी) प्रामाणिक उल्लेख हमें जोनराज कृत (द्वितीय) राजतरंगिणी में इस तरह मिलता है–

"मलोनूरदीननामानं यवनानां परं गुरुम्।

वैदग्ध्याच्छकमान: स द्रोहीति तमबन्धयत्॥"[8]

"मुसलमानों के परम गुरु मुल्ला नूरदीन नाम वाले को उनकी विदग्धता की शंका करते हुए उस द्रोही ने जेल में डाल दिया।"

यहां पर साफ इशारा सूहभट्ट की ओर है जो सुल्तान सिकन्दर का प्रधानमंत्री था। सूहभट्ट इस्लाम धर्म में मीर सैयद मुहम्मद हमदानी द्वारा दीक्षित हुआ था, और उसका नाम अब सैफदीन रखा गया था। अपनी वफादारी दिखाने के लिए वह हिन्दुओं पर मुसलमानों से भी अधिक अत्याचार करता था, प्रस्तुत श्लोक में कहा गया कि मुल्ला नूरदीन की विदग्धता ही उसके लिए कारागार में डालने का कारण बन गई। यह विदग्धता उसकी उदारता के अतिरिक्त ऐसे कुसमय में और क्या हो सकती थी। अत: इस स्वस्थ दृष्टिकोण की कीमत उन्हें जेल-दण्ड भोगने से चुकानी पड़ी।

इस निष्कर्ष पर पहुंचने से पूर्व हमें कई एक शंकाओं का समाधान करना संगत जंचता है, प्रथम यह कि "नुन्द ऋषि" मुल्ला नहीं थे, वे तो इस्लाम धर्म में नवदीक्षित थे, अत=उनके नाम के साथ "शेख" शब्द जोड़ा जाना अधिक उचित था, तो किन कारणों से जोनराज जैसे जागरूक इतिहासकार ने उनके साथ

"मुल्ला" उपसर्ग रख दिया। "मुल्ला" शब्द का मूल अर्थ "मुसलमानों का धर्मनेता" दिया गया है[9], अत: जोनराज ने जान-बूझ कर "परं गुरु" का अनुमोदन इस अरबी शब्द से करना चाहा है, अरबी चूंकि मुसलमानों की धर्म-भाषा है, अत: "मुल्ला" शब्द का प्रयोग करके इस इतिहासकार ने अरबी भाषा से प्रमाण-पत्र लेने की सजग कोशिश की है। आगे चलकर इस "मुल्ला" शब्द में अर्थ संकोच आ गया और वह केवल मौलवी के रूप में प्रयुक्त होने लगा।

दूसरी शंका इस प्रकार की है, इस समय में हमें दो और "नूरदीन" मिलते हैं[10] ; सम्भव है कि जोनराज इन दो में से किसी एक का वर्णन करना चाहता हो। फारसी इतिहासकारों के अनुसार एक नूरदीन सूहभट्ट का प्रति-स्पर्धी था, राजनीतिक शत्रु, परन्तु वह मुसलमानों का परम गुरु न था, और सुल्तान काल में ऐसे प्रतिदन्द्वियों को जेल में डालने की अपेक्षा कत्ल किया जाना सुरक्षा की दृष्टि से अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था, ऐसे उदाहरण तो बहुत हैं, अत: यह "नूरदीन" राजनीतिज्ञ था, अत: यह कदापि "नुन्द ऋषि" नहीं हो सकता। इसी प्रकार दूसरे "नूरदीन" के विषय में कहा गया है कि वह सुल्तान सिकन्दर ने तैमूर लंग के पास राजदूत बना कर भेजा था[11], यह तो साफ है कि वह राजदूत था, सुल्तान सिकन्दर का विश्वासपात्र, अन्यथा वह उसे ऐसे उग्र आक्रमणकारी तैमूर के पास कैसे भेजता, इस "नूरदीन" के सद्प्रयत्नों द्वारा तैमूर जैसा बर्बर सुल्तान सिकन्दर से बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसके पास दो हाथी पुरस्कार रूप में भेजे।[12] जिस राजदूत ने अपनी बुद्धि का ऐसा कौशल दिखाया हो उसे जेल में डालना हास्यास्पद दिखाई देता है, अत: अब स्पष्ट है कि जोनराज द्वारा वर्णित "नूरदीन" वास्तव में "नुन्द ऋषि" ही है।

अब हम उस परिवेश का थोड़ा-सा परिचय देंगे जिसके प्रकाश में "नुन्द ऋषि" ने अपना शाश्वत सन्देश जनता तक पहुंचाया। यह बात तो सर्वमान्य है कि मुसलमानी राज्य स्थापित होने से पहले कश्मीर में मुसलमानों की काफी जन-संख्या थी। वे दूर देशों से आकर यहां बस गये थे, और कई हिन्दू राजाओं ने उन्हें आश्रय भी दिया, कई मुसलमान बहुत अच्छे पदों पर नियुक्त भी किए गये, विशेषकर सेना में, क्योंकि हिन्दू राजा विदेशी लोगों से निर्मित सेना पर अधिक विश्वास रखते थे। यह सेना खरब, बम्ब, भोट तथा

तुर्क सिपाहियों से बनती थी[13], अन्तिम नाम मुसलमानों का द्योतक है, अतः यह अनुमान करना सहज बन जाता है कि समाज में मुसलमानी अस्तित्व जन-जीवन को बहुत सीमा तक प्रभावित कर चुका था। इसी प्रकार दार्शनिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आदान-प्रदान की प्रवृत्ति जाग उठी होगी, जिसकी परिणति हमें लल्लेश्वरी के ''वाकों'' में परिलक्षित होती है। इस तरह ''नुन्द ऋषि'' के लिए वह रास्ता पहले ही समतल हो चुका था जिस पर उनकी दिव्य-प्रतिभा ने चलने का आग्रह दिखाया। परन्तु अब वातावरण उतना प्रेरणादायक नहीं रह पाया था, जितना इससे पहले था। शन्ति का स्थान क्रान्ति ने लिया था और वह भी सशस्त्र, सैयदों ने जब कश्मीर में पदार्पण किया तो उन्हें यह सूझा कि जो इस्लाम यहां प्रचलित था वह कुरानी-शिक्षा के अनुरूप नहीं था, अतः इन्होंने सर्वप्रथम मीर सैयद अली हमदानी तथा उनके बाद उनके पुत्र मीर सैयद मुहम्मद हमदानी के नेतृत्व में कश्मीर में शुद्ध इस्लाम का प्रचार किया, राज्यय धर्म इस्लाम घोषित हुआ, धार्मिक समस्याओं पर मंत्रणा देने के लिए ''शेख-उल-इस्लाम'' नियुक्त किया गया, अदालतों में काजी ''शरीयत'' की व्याख्या और तदनुरूप दण्ड देने के लिए नियत किए गये[14] , परन्तु साथ ही हिन्दू-जनता को मुसलमान बनाने का एक अभियान आरम्भ किया गया, जिसको पूरा करने के लिए प्रेरणा के बदले आतंक, छल तथा बल से काम लिया गया, कश्मीर की राजनीति ने सामाजिक जीवन भी विषैला बना दिया, और ऐसी विपरीत परिस्थितियों में नुन्द ऋषि ने भ्रातृभाव का जो सनातन सन्देश दिया उसे अभिव्यक्त करने के लिए बहुत ही ऊंचे दर्जे का नैतिक साहस अपेक्षित था, और अपने सुदृढ़ मनोबल से इस दिव्य-आत्मा ने यह चमत्कार भी कर दिखाया, तलवारों की खन-खन उनके विश्वास को विचलित न कर सकी और उन्होंने निर्भयता से यह सीख देनी चाही-

''एक ही माता-पिता की सन्तान, इन्हें आपस में बैर करने से क्या लाभ होगा, यह परमात्मा इन मुसलमानों और हिन्दुओं पर कब दया-दृष्टि करेगा।''[15]

इस दृष्टिकोण की सुस्पष्ट करने के लिए वे मुसलमानों को यह समझाना चाहते हैं-

''जो अपना मूल्य कौड़ी भी न समझे, जो दूसरों के साथ होड़ न करने लगे, जो दुर्जनों की संगति छोड़कर सज्जनों की शरण में जाये, जो रात-

दिन अपना जीवन निछावर करने के लिए तैयार रहे, जो अपने साथ दूसरों को भी भवसागर के पार करे, उसे ही मुसलमान कहा जाता है।''[16]

इस प्रकार मुसलमानों को अपने धर्म के असली स्वरूप से अवगत कराकर, वे इन्हें हिन्दुओं पर अत्याचार न करने का उपदेश देते हैं।

जैसा हमने ऊपर संकेत दिया है कि केवल जोनराज ने ही ''नुन्द ऋषि'' के विषय में अधिकृत उल्लेख किया है, यह इतिहासकार इन्हें सुल्तान अलीशाह के शासन काल में जीवित दिखाता है, इस सुल्तान ने कश्मीर पर 1413 ई० से 1419 ई० तक राज किया; अत: हम इस परिणाम पर पहुंचते है कि इन वर्षों में वह दिव्य-पुरुष कश्मीर को पुण्यभूमि को अपने दिव्य-सन्देश से सींचने का भगीरथ संकल्प करने में दत्तचित्त थी, उनका स्वर्गारोहण कब हुआ, इसके सम्बन्ध में हम आजकल उपलब्ध इतिहास-सामग्री के अभाव में कुछ भी नहीं कह सकते। यद्यपि ऋषिनामें और उनके शिष्यों द्वारा प्रणीत फारसी ग्रन्थों में उनके परमधाम प्राप्त करने के विषय में भी लिखा गया है, परन्तु इनमें विरोध के कारण यह तिथियां स्पष्ट कारणों से प्रमाणित दिखाई नहीं देतीं।

दुर्भाग्य से उनके ''श्रुकों'' (क०संस्कृत श्लोक) का कोई प्रामाणिक संस्करण अभी तक तैयार नहीं हो पाया, लल्लेश्वरी और उनके चौपदे कहीं-कहीं पर समान भी हैं। इसका मूल कारण यही हो सकता है कि लोगों ने स्मृति से काम लेकर बहुत समय बाद इस चौपदों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया। इस दिशा में अभी बहुत कुछ करने को बाकी है, जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकैडमी में 1965 ई० में श्री अमीन कामिल द्वारा इन ''श्रुकों'' का एक संस्करण छपवाया, इसी के आधार पर हम ''नुन्द ऋषि'' की आध्यात्मिक यात्रा के विभिन्न पड़ाव निर्दिष्ट करने का यत्न करेंगे।

इन ''श्रुकों'' के गहन अध्ययन से हम ''नुन्द ऋषि'' की साधना को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम वह तड़पन जो असीम आत्मा परंब्रह्म परमात्मा से एक होने के लिए विक्षुब्ध हो उठती है। इसे हम आत्म-जिज्ञासा का नाम दे सकते हैं, आत्म-चैतन्य प्राप्त करने के लिए यही आत्म-जिज्ञासा भाव-भूमि संजोती है, इस मानसिक स्थिति में विरह की वेदना भौतिक आंखें मींचने पर बाध्य करके इन्हें मन की ओर केन्द्रित करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति जगाती है, बाह्य वातावरण की उपेक्षा करके ऐसा साधक अन्तर्विमर्श, मनन तथा चिन्तन में अपनी सम्पूर्ण मानसिक तथा शारीरिक शक्ति लगा देता है। इस तपन को शान्त करने की

इच्छा से वह अद्वितीय सहन-शक्ति से काम लेता है, जिसे कुरानी भाषा में "सबूर" कहते हैं। साधक की परीक्षा ऐसे ही समय पर होती है। कुछ तो इस आंच को ताव न लेकर आधे रास्ते से ही लौट आते हैं। वास्तव में यह आत्मशिक्षा और आत्मानुशासन की कसौटी है। सोना आग में ही तप कर कुन्दन बन जाता है, इसकी चमक अधिक तेज हो उठती है, गुलाब की सुन्दरता कांटों के आंचल में अधिक निखरती है। यही हाल साधना की इस प्रथम दशा में हो जाता है; इस मानसिक ज्वारभाटे का "नुन्द ऋषि" यों मार्मिक वर्णन करता है–

"इस मानसिक तपन को सहन करना बिजली की कड़क तथा वज्र के समान कठोर है। यह अनुभूति दिन-दहाड़े अन्धकार हो जाने के समान है। यह तो निरन्तर चक्की में पिसना है, इसे तो हाथों में आग रखने के बराबर है।"[17]

दूसरे शब्दों में "अल्मदारि कश्मीर" हमें यह समझाना चाहते हैं कि यदि इस मानसिक तपन पर सहनशक्ति का मरहम न लगाया जाये, तो यह सारा प्रयत्न निष्फल हो जायेगा, परन्तु सहनशक्ति तो निरन्तर अभ्यास द्वारा प्राप्य है, अतः आत्म-जागरण के लिए सहनशक्ति का दामन थामना यद्यपि बहुत कठिन है, परन्तु सर्वथा अभीष्ट है।

इस विक्षोभ की शान्ति आत्म-शिखा द्वारा होती है। साधक जब पहले इस अग्नि-परीक्षा में सफल होता है, तो उसे अपने असली व्यक्तित्व का आभास होने लगता है, वह विषय-वासनाओं की पकड़ से ऊपर हो उठता है, सांसारिक बन्धन उसके लिए हेय बन जाते हैं, संसार में सांसें गिनता भी वह इसकी मायाविनी शक्ति से अभिभूत नहीं हो पाता, संक्षेपतः वह अनेकत्व में एकत्व के साक्षात्कार से आत्म-शिक्षा का दायित्व पूरा करता है, बीते समय को व्यर्थ गंवाने पर वह पछतावा करता है, और संसार की "मोहन शक्ति" का रोना इस तरह रोता है–

"मुझे केवल इसीलिए जन्म दिया गया था कि मैं विषय-वासनाओं की पकड़ से ऊपर हो उठूं, परन्तु संसार के इस मोहन बाजार ने मुझे विस्मित किया, मेरी आंखें चुंधिया दीं, मुझ जैसे अनुभवी पर भी इस संसार का जादू चल गया, अब बताइये यहां जन्म लेने से मैंने क्या पाया?"[18]

इस तरह साधक आत्म-शिक्षा द्वारा आत्म-चैतन्य की प्राप्ति के लिए वातावरण अनुकूल बनाने में समर्थ होता है, आत्म-जिज्ञासा आत्म-शिक्षा के दरवाजे खोलती है, और अब आत्म-शिक्षा दिव्य-ज्योति को अपने आप में देखने की प्रेरणा

देती है, ससीम और असीम के बीच मोम की दीवारें साधना की आंच से ढह जाती हैं और जीवात्मा अपने में ही परमात्मा के अस्तित्व की अनुभूति से यह कहने के लिए बाध्य हो उठता है–

''मैं उसके पास और वह मेरे पास है, वस्तुत: मुझे उसका हो लेने में ही मानसिक शान्ति मिल पाई, अज्ञान के कारण मैंने उस ''राजा'' को परदेसों में ढूंढ़ा, जबकि अब मुझे ज्ञान हुआ कि वह मेरे देश में ही है।''[19]

इस प्रकार की अनुभूति आत्म-चैतन्य की पराकाष्ठा मानी गई है; इस मानसिक व्यायाम में ससीम और असीम की दूरियां स्वत: सिद्ध कट जाती हैं, ऋषि प्यार का प्रतीक बन कर इसे बांटने के लिए उतावला हो उठता है, भेद का नाश करने के लिए वह अभेद का शंख-नाद जनता में फूंकना चाहता है, वहां अब अपना लक्ष्य पाकर दूसरों के लिए जीना चाहता है, वह दिव्य-ज्योति के अमर प्रकाश से लोगों के मन में निहित अंधेरे को दूर भगाना चाहता है, वह व्यक्ति से ऊपर उठ कर समष्टि को अपनी दिव्य-कमाई का साझीदार बनाना चाहता है, यह मंजिल अनुभूति-जन्य है, विद्या-प्रसूत नहीं, जभी तो ''नुन्द ऋषि'' फरमाते हैं–

''विद्या का आदि स्रोत'' ''कलमें'' के सही अर्थ को समझना है, कर्म का आदिस्रोत वह क्षण है जिनसे जीवन बनता है, ''शून्य'' का आदि-स्रोत वैसे ही अपनी पहचान है जैसे समुद्र का आदि-स्रोत अथाह है।''[20]

जैसा हमने ऊपर इशारा किया है, ''नुन्द ऋषि'' एक शान्तिप्रिय मुसलमान थे, और ऋषित्व की प्रेरणा उन्होंने हजरत मुहम्मद की तालीम से पाई। पैगम्बर मुहम्मद की तालीम सीधी और सादी थी, उन्होंने अपने पीछे किसी प्रकार का रूढ़िवादी अथवा रहस्यवादी जीवन-दर्शन नहीं छोड़ा; परन्तु कुरान में इन दोनों को प्रचुर सामग्री विद्यमान है[21], अत: ''नुन्द ऋषि'' ने इसी तालीम के असली अर्थ और उद्देश्य को जनता के सामने रखा। जो कुछ भी उन्होंने कहा उसका कुरानी सत्यों से गहन सम्बन्ध था, और वे इस दिशा में साफ-साफ कहते हैं–

''उस पैग़म्बर पर कुर्बान जाऊं, जिनके शुभागमन से संसार में रहमत जारी हो गई, जब कयामत के दिन हमें हिसाब देने की बारी आयेगी, तो हम सब उसी की ओर आशा भरी आंखों से देखते होंगे।''[22] कोई भी संस्कृति तब तक जीवित नहीं रह सकती जब तक इसमें समन्वय का मूल-मंत्र समोया हुआ न हो, एक संस्कृति की राख पर दूसरी का निर्माण भले ही किया गया हो, लेकिन वह छलावा

हैं, क्योंकि प्राचीन विश्वास आसानी से नष्ट नहीं किये जा सकते, केवल इनका परिमार्जन करके नवीन रूप ही जनता की धड़कनों के साथ समस्वर हो सकता है। वातावरण के अनुसार संस्कार भी अपने आपको तदनुरूप ढालने में समर्थ हो पाते हैं, जीवन का चिर सनातन सत्य नहीं है। इस्लाम के सजग प्रचारक ''नुन्द ऋषि'' ने समय की नाड़ी को अच्छी तरह पहचाना, सूफी सादात की तरह इन्होंने अतीत को सर्वथा उपेक्षित रखने की गलती नहीं की, अतीत और वर्तमान के बीच सेतु बन कर इन्होंने भविष्य की रूपरेखा संयोजित की, उनकी लोकप्रियता का मूल कारण यही है। उनके मुक्तकों में भाव अथवा कलापक्ष से इस दृष्टिकोण का शतश: समर्थन होता है, विश्व-व्यापी धर्मों के सिद्धान्त एक जैसे होते हैं, और इनके जीवन-दर्शन की समानता पर ज़ोर देने से ही मानव विश्व-नागरिक बन सकता है, विरोध की अपेक्षा सहकारिता पर बल देने से ही जीवन की मिठास अक्षुण रह सकती है, ''नुन्द ऋषि'' जहां इस्लामी मूल्यों के सजग प्रहरी बने रहे, वहां इन्होंने जीवन की इस मधुरिमा को दोनों हाथों से थामे रखा, इस तरह उनका उपदेश हिन्दू और मुसलमान दोनों को प्रभावित करने में सफल रहा, अत: हमें उनकी भाषा में भी दो प्रकार के रूप मिलते हैं, एक मुसलमानी रूप जिसमें अरबी-फारसी शब्दों की प्रचुरता है और दूसरा पंडिताऊ रूप जिसे संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है।

मुसलमानी भाषा–

''मैंने नकारता (नफी) को सकारता (इस्बात) में बदल दिया, और अपने आपको पैगम्बर-इस्लाम के इल्हाम (वहीं) के अर्पण किया, अपना वैयक्तिक अहं से पकड़े रखा, इसीलिए मैं अनिकेत दशा (लामकान) को प्राप्त हुआ।''[23]

ऊपर कोष्ठों में दिए गये शब्द अरबी अथवा फारसी के हैं, जिनका इस्लामी रहस्यवाद से गहरा सम्बन्ध है।

पंडिताऊ भाषा–

''काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार नारकीय ज्वालाओं को अधिक प्रचंडता प्रदान करते हैं, अपनी क्रिया से उस जगत्कारण को पाना ही अभीष्ट है, तुम्हारी जेब में जो पैसे हैं (तुम्हारे पास ही आत्मलाभ करने के साधन हैं); इन्हें ऐसी-वैसी चीजों पर व्यय न करो।''[24]

प्रस्तुत पद्य में काम, क्रोध इत्यादि शब्दों का यथातथ्य प्रयोग किया गया है, जो हिन्दू आस्थाओं के पूर्णत: अनुकूल है। इसी तरह इस अलौकिक मनीषी ने

भाव-पक्ष में भी ऐसी विचित्रता का अकाट्य प्रमाण दिया।

कुरानी शिक्षा-

''जो इस पवनाश्रित शरीर में दीपक प्रज्वलित करे, और इसमें तेल की जगह ज्ञान इल्म'' और धर्म (दीन) भर दे, बुरी बातें छोड़कर अच्छी बातें अपनाये, क्योंकि सारा ज्ञान ''अल्फ'' (अल्लाह), ''लाम'' (जबरील), ''मीन'' (मुहम्मद) और ''शीन'' (शरीयत) में केन्द्रित है।''[25]

शैव-शिक्षा-

''अन्तकाल में तुम्हें चैतन्य होगा, कि सारी आयु तुमने व्यर्थ ''पर प्रकाश'' से अभिभूत होकर वासनाओं का मजा चखने तथा धन बटोरने में व्यर्थ गंवाई। अगर तुम चाहते हो कि सत् प्रकाश तुम्हारे अन्दर उल्लसित हो तो तुम्हें सहजोवासना में जग जाना चाहिए।''[26]

इस ''श्रुक'' में अन्तकाल, चैतन्य, पर प्रकाश, त्रिया, धन, सत् प्रकाश, उल्लास, और सहज शब्दों के तत्सम रूप दिये गये हैं, और ये सब शैव-चिन्तन धारा के पारिभाषिक शब्द हैं; इसी तरह ऊपरले श्रुक में अरबी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिन्हें हमने कोष्ठों में दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ''नुन्द ऋषि'' ने दोनों सम्प्रदायों-हिन्दू और मुसलमानों को धर्म के वास्तविक स्वरूप से अवगत कराया, इसमें बैर के स्थान पर प्रेम है, उग्रता के स्थान पर सौम्यता, आतंक के स्थान पर प्रेरणा है, यह दिल की भाषा है जिसे दिल वाला ही समझ पाता है।

कश्मीर में इस ऋषि-सम्प्रदाय में किसी नवीन धर्म की स्थापना नहीं की, अपितु धर्म के विकृत रूप को प्रांजलता और सर्वग्राह्यता अवश्य प्रदान की, जो मकड़ी के जाले मानव के मस्तिष्क तथा मन में घर गये थे, उन्हें पूरी तरह झाड़ दिया, मानव ने अपने आपको पहचान कर मानवता का संबल सर्वधर्म-समभाव का जोड़ने वाला अमर सन्देश जान दिया, जीवन की हरियाली फिर से ताजा हो उठी जीवन का उद्देश्य भी साफ और स्पष्ट हो उठा।

ऋषियों की सबसे उत्तम विशेषता उनके आत्म प्रयोग के सिद्धान्त में अडिग निष्ठा है, जो कुछ भी उन्होंने कहा, उसे सर्वप्रथम अपने ऊपर आजमाया; उनकी कथनी और करनी समानार्थक बन गये। कश्मीर की सांस्कृतिक थाती को

सुरक्षित रखने के लिए इन्होंने लोकनायकों का दायित्व बहुत ही जिम्मेदारी से पूरा किया, जब भी इस भाईचारे की शान्त, धीर, गम्भीर गंगा को किसी ओर से आन्दोलित करने का दुस्साहस किया गया, कश्मीरी इस भ्रातृभाव की अक्षय-निधि की सुरक्षा के लिए काले नाग से फुफकार उठे, जीवन की उज्जवलता में इन्होंने कभी भी दाग लगने न दिया। ''नुन्द ऋषि'' की साधना का अमरफल इससे और अधिक क्या हो सकता था।

''नुन्द ऋषि'' का शाश्वत सन्देश अटूट भक्ति का परिचायक है, इस साधना का अमोघ मन्त्र आत्मविस्मृति है, प्रेम इसकी धड़कन है, कविता इसकी अर्चना है और आत्म-लाभ इसका ध्येय है। मानव को वे ऐसा ही पवित्र देखना चाहते हैं जैसे गुलाबी पंखुड़ियों पर प्रातः कालीन कुंवारी ओस के श्वेत तथा पारदर्शी बिन्दु।

-0-

1. जोनराज राजतरंगिणी, पृष्ठ 302-377, 2. कल्हण्कृत राजतरंगिणी, 3. सिपन्सर ट्रिमिंघम, ''इस्लाम में सूफी सम्प्रदाय'', पृष्ठ 264, 4. डा० नुहिबलहस्सन ''कश्मीर अण्डर सुल्तान्स'', 5. श्री अमीन कामिल द्वारा सम्पादित ''नूरनामा'' श्रुक नं० 100, 6. हाजी महीउल्दीन कृत ''तारीरिव कबीर'' 7. हस्सन कीहयामी-तारीखि कश्मीर फारसी, 8. श्लोक नं० 672, 9. मौलाना अब्दुल हफीज द्वारा सम्पादित अरबी कोष मुसबाहुल लुगात, पृष्ठ 84। 10. बहारिस्तान शाही (फारसी), 11. फारसी इतिहासकार, 12. जोनराज, राजतरंगिणी, श्लोक 562, 13. कल्हण् राजतरंगिणी विशेषकर महाराज हर्ष का वर्णन, 14. जोनराज राजतरंगिणी, श्लोक 573 इत्यादि, 15. नूरनामा ''श्रुक'' नं० 12, ''श्रुक'' (कश्मीरी) श्लोक (संस्कृत) का सद्भव रूप है, 16. वही, श्रुक नं० 61, 17. नूरनामा ''श्रुक'' नं० 176 ''श्रुक'' (कश्मीरी), श्लोक (संस्कृत) का तद्भव रूप है। 18. नूरनामा-श्रुक नं०- 128, 19. वही-श्रुक नं० 211, 20 वही-श्रुक नं० 71, 21. आर० ए० निकलसन, लिगेसी आफ इस्लाम पृ० 224, 22. नूरनामा-श्रुक नं०-46, 23. आर०ए० निकलसन, लिगेसी आफ इस्लाम-209, 24. वही, श्रुक 47, 25. वही श्रुक 141, 26. वही पृ० 285

हब्बा खातून-व्यक्तित्व और कृतित्व

कश्मीर की सांस्कृतिक थाती जितनी समृद्ध है उतनी ही विचित्र भी। प्रकृति की इस लाडली मानसपुत्री ने जहां समस्त संसार को अपनी नैसर्गिक तथा अप्रतिम शोभा-सुषमा से चकित किया वहां अपने मानसिक उबाल के माध्यम से साहित्य के हर एक अंग में नये अध्याय जोड़ दिये हैं। इतना ही नहीं विश्व के तीन बड़े धर्मों ने इसे अपनी प्रयोगशाला बनाया। इस तरह यहां के जन-जीवन में बौद्धों की करूण, हिन्दुओं की सहिष्णुता तथा मुसलमानों की एकनिष्ठता का समो जाना स्वाभाविक है। आजकल का कश्मीरी भले ही नाम से हिन्दू या मुसलमान हो, संस्कारवश उसमें यह तीनों गुण घुल-मिल गए हैं। सम्भवतः यही प्रमुख कारण कश्मीरियों के धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण में निहित हैं। इस प्रकार जब चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग एक विदेशी संस्कृति ने यहां अन्दर जाने के लिए द्वार पर दस्तक दी तो उसके लिए जैसे कश्मीरियों के जीवन दृष्टिकोण ने पहले से ही उर्वरा भूमि तैयार कर रखी थी। इस्लाम की प्रचारात्मक उग्रता किसी उल्लेखनीय प्रतिक्रिया के अभाव में विवश होकर सौम्यता में बदल गई। राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण में एक अभूतपूर्व मोड़ आया। जनविश्वासों को धक्का लग जाने का भय था, परन्तु इसी धर्मसंकट में साहित्य ने अपना दायित्व पूरा किया।

हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों ने इस संगम पर लल्लेश्वरी का प्रादुर्भाव हुआ, साहित्य के माध्यम से इस नारी-विभूति ने जनविश्वासों को ढह जाने से बचाया। जनता के सामने उस समय प्रत्यक्ष अति कड़वा था, अतः इस जागरूक कवयित्री ने प्रत्यक्ष की कड़बाहट में परोक्ष की मिठास मिला दी। भौतिकता से आंखें मीच कर आध्यात्मिकता का सुनहरा स्वप्न जनता के सामने रखा। इस प्रकार वर्तमान को हेय समझ कर आध्यात्मिक लाभ के ब्याज से इसने कश्मीरी जनता को जीने के लिए प्रेरणा दी, उनके लिए संजीवनी औषधि जुटा दी। "लल्ला" का अध्यात्मवाद मूलतः शैव दर्शन का ऋणी है। परन्तु समय की नाड़ी पहचानते हुए इसने इसमें इस्लामी सूफीवाद का भी पैवन्द लगा दिया। यह समय की मांग भी थी,

क्योंकि औपचारिक धर्म-परिवर्तन से पहले ही कश्मीर में इस्लामी सूफीवाद प्रविष्ट हो चुका था, और विचारों के आदान-प्रदान से कश्मीरी जीवन दर्शन (शैव) से इसका सान्निध्य स्थापित हो चुका था। ''लल्ला'' की उक्तियों में यद्यपि हिन्दू-शैव-दर्शन का स्वर मुखर है परन्तु इस्लामी सूफीवाद का प्रभाव भी उनमें स्पष्ट है।

''साहेब छु बिहिथ पानु दुकानस

सऽरी मगान केंछ़ा दियिव

रठ नो कांऽसि हुन्द रांछ नीं वानस

यि चे़ गाछ़य पानै नि॥''

(साहब स्वयं दुकान पर बैठा है, सब कुछ मांगते है, किसी को कोई रोक नहीं, दुकान की कोई रखवाली नहीं, जो तुम्हें चाहिए स्वयं उठा कर ले लो)

इस ''वाक्'' में साहब शब्द कबीर ही की तरह परंब्रह्म का पर्याय है, और सूफी शब्दावली से उद्धृत है। आगे चलकर शेख नूरूद्दीन ने लल्ला से स्वर मिला कर आध्यात्मिकता का राग अलापा। इस तरह हिन्दू और मुसलमान अध्यात्मवादियों ने एक समान रूप से कश्मीरी जनता को अध्यात्म और असीम से एकाकार होने के लिए बराबर प्रेरणा दी। लल्ला तो सच्चे अर्थों में कश्मीरी काव्य का प्रथम प्रकाश स्तम्भ है।

परन्तु जब हब्बा के स्वभाव-कोमल शरीर ने आंखें खोलीं, तो उस समय तक अध्यात्म की यह संगीत लहरी बासी पड़ गयी थी। जीवन के प्रति मूल्यों और अवस्थाओं में युगान्तर आ चुका था। समष्टि रूप में सोचने के स्थान पर व्यक्तिगत चिन्तन की प्रधानता हो गई। बहिर्मुखता ने अन्तर्मुखता के लिए जगह खाली की, अत: इस भावुक कवयित्री ने प्रचलित लीक पर न चल कर कश्मीरी काव्य की एक स्वस्थ और प्राणवान् दिशा दी। ''जग-बीती'' के मुंह में न पड़ कर इसने ''आप-बीती'' को वाणी दी। अपने वैयक्तिक अनुभवों तथा अनुभूतियों को समेट कर इस भावविह्वल नारी ने ऐसे मधुर-करूण काव्य का सृजन किया जो स्वयं में ही अपना उदाहरण है।

हब्बा को इन्हीं कारणों से कश्मीरी रोमान-गीतों की जननी कहा जाता है। सामयिक परिस्थितियों के परिवेश में उसका अन्तर्मुखी हो जाना स्वाभाविक जान पड़ता है। कश्मीर का अन्तिम देशीय शासक ''युसुफशाह चक'' भोग और

विलास की प्रतिमूर्ति था। उसके शीशमहलों में कामुकता का नग्न नृत्य हो रहा था। उसकी प्रजा दो जून रोटी के लिए तरस रही थी। मुगलों ने इस निष्क्रिय शासक की विलासप्रियता और उसकी बिलखती प्रजा के आर्थिक शोषण से लाभ उठा कर छल और बल से यूसुफ के शीश महलों को धराशायी कर दिया, और इस तरह राजनीतिक वातावरण विषाक्त होने लगा। इस समय की मुसलमानों की एक जाति ''शियों'' ने ''सुन्नियों'' पर अत्याचार करने आरम्भ किए। इस तरह धार्मिक वातावरण भी संतोषजनक न था। समाज विश्रृंखल हो चुका था। हिन्दू पूर्ण रूप से निश्शंक जीवन व्यतीत नहीं कर रहे थे और स्वयं मुसलमानों में जातिवाद हिंसक रूप धारण कर रहा था। ऐसे अव्यवस्थित वातावरण में कवि का समष्टि के लिए सोचना नैसर्गिक जान पड़ता है। इतना ही नहीं, उस समय दैवी प्रकोप एक और रूप में प्रकट हुआ। 1576 में असमय हिमवर्षा होने के कारण कश्मीर में तीन वर्ष तक दुर्भिक्ष का विनाशकारी ताण्डव देखने में आया। ऐसे संकटपूर्ण वातावरण में भावुकता ने प्रत्यक्ष का रास्ता न पकड़कर परोक्ष के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति की। ऐसे वातावरण से जूझने और उसे मनोनुकूल बनाने की किसी में सामर्थ्य न थी। अत: एक प्रकार से इस कटुता को भुलाने के लिए कवयित्री ने प्रेम और अनुराग के गीत गाये।

दुर्भाग्य से इस कोकिलकंठी के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता केवल जनश्रुतियों और किंवदन्तियों का एक जाल-सा उसके व्यक्तित्व पर बुना हुआ है। धुंधलके में छिपे हुए उसके रंगीले जीवन के विषय में हमें कई फारसी इतिहासकारों के उद्धरण मिलते है। इन इतिहासों का प्रामाणिक महत्व विवादास्पद है। हब्बा के विषय में इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध इसलिए है कि इनमें से कोई भी इतिहासकार उसका समकालीन न था। वे भी सुनी-सुनाई बातों का ही अपने इतिहासों में वर्णन करते हैं, फिर भी उनसे लिखित वृत्त के प्रकाश में हम हब्बा के जीवन की धूमिल झांकी पा सकते हैं।

सर्वप्रथम पं० बीरबल काचरू ने हब्बा के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। वह कहते है कि यूसुफशाह हब्बा खातून नाम वाली प्रेयसी से बहुत लगाव रखता था। उसके पूर्वज पांपुर के पास ''चन्द्रहार'' गांव के रहने वाले थे। जब वह वयस्का हुई तो उसका विवाह अपने ही वंश में किया गया। कुछ समय के बाद भावुकता में आकर वह कश्मीरी गाने गाने लगी, जिस पर उसके ससुराल वाले उससे खिन्न होने लगे और अन्त में उसे घर से निकाल दिया। मायके जाते हुए रास्ते

में उसे यूसुफशाह के कर्मचारियों ने पकड़ लिया और अपने बादशाह के पास ले गये जिसने इसके रूप-लावण्य और संगीत-कला पर मुग्ध होकर इसे ''सहवास'' से सम्मानित किया।

श्री काचरू का यह इतिहास हब्बा से लगभग ढाई सौ वर्ष बाद लिखा गया था, और इसी तरह इसके कोई साठ-सत्तर वर्ष बाद हसन खुयहामी अपने प्रसिद्ध इतिहास ''तारीखे-हसन'' में हब्बा के सम्बन्ध में ये लिखते हैं- ''कहते है कि हब्बा पाम्पुर के चन्द्रहार गांव के एक किसान की लड़की थी। उसकी शादी एक लम्पट और अकिंचन व्यक्ति से हुई और हब्बा की इससे पट न सकी। इस तरह वे दोनों, पति-पत्नी अलग हो गए। एक दिन रास्ते में चलते हुए यूसुफशाह सुध-बुध खो बैठा और दूसरे दिन इसके माता-पिता को असंख्य धन देकर इस सुन्दरी को अपने ''सहवास'' का सम्मान दिया।''

श्री काचरू और हसन के इन वृत्तों में यद्यपि कुछ अन्तर है फिर भी दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, प्रथम यह कि हब्बा परित्यक्ता न होकर भी अपने पति से अलग रहती थी, दूसरा यह कि दोनों इतिहासकारों ने ''सहवास'' का प्रयोग करके यह बता देना चाहा है कि वह बादशाह की परिणीता न होकर प्रेयसी मात्र थी।

आगे चलकर मुहम्मद दीन ''फोक'' ने हब्बा के वास्तविक नाम की और सबसे पहले संकेत दिया है। वे कहते हैं कि माता-पिता ने इसका नाम ''जून'' रखा था। क्योंकि वह चांद की तरह अप्रतिम सौन्दर्य की स्वामिनी थी। विवाह के बाद पति से अलग होने के बाद फ़ोक महोदय हब्बा और एक सूफी ''ख्वाजा महमूद'' की भेंट की बात कहते हैं, जिसने इसका नाम ''जून'' से बदल कर हब्बा रखा। हसन के वृत्त से आगे चलकर इसमें इतना ही भेद है कि हसन हब्बा को रखेल समझते हैं जबकि फ़ौक महोदय इसे महारानी। फ़ौक़ ने अपनी पुस्तक में यह उल्लेख नहीं किया कि श्री काचरू और हसन खुयहामी के अतिरिक्त उसके पास और कौन सी सामग्री थी जिसके आधार पर उन्होंने हब्बा को बेगम लिखा है।

कश्मीर के प्रसिद्ध रोमानी कवि स्व० महजूर ने भी फोक महोदय के ही विचारों का अनुमोदन किया है और स्व० आजाद ने इस सम्बन्ध में हसन का अनुसरण किया है केवल इस अन्तर के साथ कि हब्बा का असली नाम ''जून'' था।

इस तरह यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि यदि हब्बा का एक और नाम भी रहा हो तो इसमें कोई असंगति नहीं। कश्मीर में अभी तक विशेषतया पण्डित घरानों में पुत्री का मायके का नाम ससुराल में बदल जाता है। एक कारण यह भी हो सकता है कि बादशाह के सम्पर्क में आने पर ''जून'' ठेठ कश्मीरी नाम बदल कर अरबी नाम से उसे पुकारा गया हो। संभ्रान्त कुलीनता दिखाने के लिए इसके साथ खातून भी जोड़ा गया हो।

अब हमें यह देखना है कि उसके मुक्तकों के आन्तरिक साक्ष्य के साथ ऊपर दिये गए तथ्य कहां तक मेल खाते हैं। उसका असली नाम ''जून'' होना उसके इस पद्य से ध्वनित होता है :

''छस रिवान नाल दिवान ग्रहणि मथ लोग जूनि तै'' मैं रो रही हूं, चीत्कार कर रही हूं कि चांद (जून) को ग्रहण लग गया। और उसके जन्मस्थान चन्द्रहार गांव की पुष्टि उसके इस पद्य से होती है–

''माल्युन म्योन प्यठ चन्द्रहार छुये''

मेरा मायका चन्द्रहार के ऊपर वाले पठार पर है।

परन्तु ये दोनों पद्य श्री अमीन कामिल द्वारा सम्पादित ''हब्बा खातून'' में नहीं मिलते। उन्हें ये दोनों पद्य प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। सम्भवत: किसी अज्ञात कवि ने हब्बा के सम्बन्ध में प्रचलित विश्वास के आधार पर उसकी रचनाओं में इन पद्यों को जाने-अनजाने में मिला दिया हो।

जनश्रुतियों के आधार पर हब्बा के विषय में एक और बात उल्लेखनीय है उसे ''भोटिया देश'' से सम्बन्धित कहा गया है। इसका कारण सम्भवत: यह रहा हो कि ''शियों'' के अत्याचार के तले पिसते हुए ''सुन्नी'' यह कब सहन कर सकते थे कि उनकी ही जाति की एक लड़की ''शिया बादशाह'' की रखेल बन जाये, विशेषकर इसलिए भी क्योंकि हब्बा औपचारिक रूप से बादशाह की विवाहिता पत्नी न थी। अत: वह कश्मीरन न होकर भोटिया थी। लेकिन इन जनश्रुतियों का हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं है।

आन्तरिक साक्ष्य के सूत्र को बढ़ाते हुए हम केवल यह कह देना चाहते हैं कि कामिल महोदय द्वारा सम्पादित ''हब्बा खातून'' में केवल बीस गीत संगृहीत हैं, इसके अतिरिक्त इस भावप्रवणा कवयित्री के बीसों और गीत लोकजिह्वा पर विराजमान है। जब तक इन सब गीतों का संग्रह करके एक बृहत प्रामाणिक

संस्करण तैयार नहीं किया जाता तब तक हमें कामिल महोदय के इस संस्करण पर ही तुष्टि करनी होगी। सौभाग्य से हब्बा अपने जन्म के सम्बन्ध में मौन नहीं है, वह बड़े चाव से कहते है:

''माल्य माजि रछनस, मोल क्या दूरे
सास बज़ि चन्ज़ि आसिम सुलवान।
मे नो ज़ान्योव लोदमुत लूरे
कांसि मा राविन शूरे पान॥''

मेरे माता-पिता ने किस लाड़-प्यार से मुझे पाला था, सैंकड़ों दासियां मेरे नाज़ उठाती थीं, मुझे पता न था कि यह बना हुआ काम बिगड़ जाएगा, किसी का बचपना यूं खो न जाए।

इस तरह यह बात साफ हो जाती है कि हब्बा का मैका एक अच्छा खाता-पीता घराना था, जिसकी पुनरूक्ति कवयित्री यूं करती है :

''मालिनि म्येनिय अर्बाब आसिय।
तवय द्राम हब्बखोतून नाव।
कम कस गोंदर आयेयि चसिथ,
दोह हरियामुत लूसित गोम॥''

मेरे मायके वाले अपने समय के सामन्त थे। इसलिए मेरा नाम हब्बा खातून पड़ा। क्या कहूं मुझ पर युवक जान छिड़कते थे, परन्तु वे दिन ढल चुके।

अत: नाम के साथ खातून जोड़ने का आग्रह उसके बहुत ऊंचे सामंत कुल में जन्म लेने के कारण हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि हब्बा अनपढ़ न थी :

माऽल्य माजि त्रावनस सबकस दूरे
ओखनन वुलनम मूरे पान।
आर रोस तुलनम नार तोम्बूरे
कांसि मा राविन शूरे पान॥

मेरे माता-पिता ने मुझे दूर विद्योपार्जन के लिए भेजा। अध्यापक ने मेरी पिटाई में कोई कसर न छोड़ी, निर्दय ने मेरी हड्डी-पसली सेंक दी। किसी का बचपना यूं खो न जाए।

इसके अतिरिक्त कुलीन गृहस्थी की तरह उसकी धार्मिक शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया था :

"सिपार त्रिह मरि परिम यख आनो

फेरि न कुनि गोम ज़ेरि ज़बरे।

अश्कुन खत परून कांसि अख आनो

चे़ क्यहो वातियो म्यानि मरनय॥"

मैंने कुरान-शरीफ के तीस सिपारे एक सार ही पढ़ डाले, और उन्हें दुहराने में "ज़ेर" या "ज़बर" का अंतर न आया, प्रेम-पत्र किसी से एक बार पढ़ा न गया, मुझे ऐ प्रीतम, मेरे मरने से क्या मिलेगा?

"माल्य माजि वुननम ड्यकुं बऽड कूरे
वाऽरिव आंगनि छिय पारान।
रोपि डोलि आसिय सोन कुन्दरे
कांऽस मा राविन शूरे पान॥"

मेरे माता-पिता ने मुझे कहा कि सुहागन-बेटी, तेरी ससुराल वाले आंगन में प्रतीक्षा कर रहे है। मेरी रूपहली डोली के बांसों पर सुनहरा कागज मढ़ा हुआ था।

परन्तु मालूम नहीं कि किस अशुभ घड़ी में हब्बा की यह रजत-खचित डोली मैके से ससुराल चली थी कि उस सुहागन की ससुराल वालों से निभ न सकी, उसे उनके क्रूर-व्यवहार की प्रतिक्रिया में मैके वालों को सहायता के लिए पुकारना पड़ा :

"हशि लोयनम टपिस थप

सुय म्ये गौ मरनि खोत सख

यन्द्र पचि प्यठ नेन्द्र प्ययिमो

चख़र फुटुम मालिन्यो

वारिव्यन सूॅत्य बार छस नो

चार करू म्योन मालिन्यो॥''

चर्खा कातते मेरी आंखें चरखे के चक्र पर लग गई, जिससे वह टूट गया। मेरी सास ने मेरी चोटी खींची जो मेरे लिए मृत्यु से भी कष्टदायक पीड़ा थी। मेरी ससुराल वालों से नहीं बनती, मायके वालों, मेरा उद्धार करो।

हब्बा अपने पति के नाम का उल्लेख इस प्रकार व्यंग्य रूप में करती है :

''म्यहो कऽ च्य कित्य फम्ब मोयान्द,

हा ''अज़ीज़ि'' ''जूनि'' मा रोश

खोतूनि पूरिय पूरि सामान्य

छाव म्याऽन्य दानै पोश॥''

(मैंने तुम्हारे लिए कठिनतर खोज की, ऐ अज़ीज़, अपने चांद से मत रूठो, मैंने सोलह श्रृंगार किए हैं, आओ मेरे अनार फूलों के समान यौवन को लूट लो)

पति वियोग में व्याकुल हब्बा सदा अपने भाग्य को कोसती रहती है:

''यारि दादे तारि गयसो

बर बुक छुम आमतुय

हब्बखोतूनि वुन इशारा

दिल हुशियारा मालिन्यो हो॥''

(अपने प्रियतम के लिए मैं व्याकुल हो रही हूं, मेरा जीवन मुझ पर भारी हो रहा है, मेरे मायके वालो मेरे इस इशारे दु:ख) को समझो।

यह बात तो निर्विवाद है कि हब्बा के ससुराल वालों ने जब उसे घोर यातनायें दीं तो उसके माता-पिता ने उसे मायके बुला लिया और वापिस भेजने के प्रति शिथिलता दिखाई। इस मानसिक स्थिति में वेदना और घुटन का तीव्राघात होना स्वाभाविक है।

जीवन के ढलते वर्षों में यह उसे खेद रहा कि यदि वह इस तड़प को ईश्वरोन्मुख करती तो उसका न इहलोक ही बिगड़ता न परलोक :

''हब्बा खोतून छय अरमान ख्येवान

करमय न ज़ांह बन्दगी।

यावुन रोवमुत छुम याद दीवान

च्ये क्यहो गयी म्याऽन्य दुॅय॥''

(हब्बा खातून को यह खेद रहा है कि उसने कभी तुम्हें बन्दगी नहीं की। खोई हुई जवानी मुझे याद आ रही है, तुम्हें क्यों मुझ से बैर हुआ।)

आन्तिरिक साक्षी के रूप में हम हब्बा के जीवन सम्बन्ध से ही कुछ कड़ियां जुटा सके हैं। उसके जन्म और मरण के विषय में हमें बड़ी सतर्कता से काम लेना पड़ेगा। उसके जीवित रहने की अवधि सौभाग्य से हमें उसके समकालीन और प्रेमी ''यूसुफशाह'' के उल्लेख से मिल जाती है। कश्मीर के इस अन्तिम स्वतंत्र शासक का राज्य काल 579 ई. से 1525 ई० तक माना गया है। इन वर्षों में हब्बा का जीवित होना नितान्त असंदिग्ध है। यह भी सच है कि यूसुफ अपने जीवन की संध्या में अधिक कामुक हो चला था, सम्भवत: इन वर्षों में इसे हब्बा का सहवास प्राप्त रहा होगा। फोक महोदय ने ''तारीख बहारिस्तान शाह के आधार पर हब्बा की जन्म-तिथि 1541 ई० से 1552 ई० में रखी है। स्व० आजाद ने भी इसी मत का समर्थन किया है। इस विषय के सम्बन्ध में कामिल महोदय लिखते हैं, मुझे इस तारीख (बहारिस्तान) शाही में हब्बा के जन्म की तिथि की बात तो अलग रही, इसका उल्लेख तक नहीं मिला।'' यह घटना तो सर्वविदित है और इतिहास सम्मत भी कि अकबर बादशाह ने 1585 ई० में कश्मीर पर अधिकार किया और यूसुफशाह को बन्दी बनाकर बंगाल भेज दिया। अत: अपने प्रेमी का सितारा डूब जाने पर हब्बा की क्या दशा रही होगी, यह सब अज्ञात है। सम्भव है भविष्य में इस सम्बन्ध में नए तथ्य प्रकाश में आयें। स्व० फोक, स्व० आजाद, तथा स्व० महजूर हब्बा की आयु 56-57 वर्ष के लगभग मानते हैं। इनमें जनश्रुतियों का आधार भी सम्मिलित है। अत: जब तक कोई ठोस तर्क इस अनुमान को झुठलाने के लिए हमारे सामने नहीं आता, तब तक इन महानुभावों के इस मत को मानने में हमें कोई संकोच नहीं।

हब्बा का जन्मस्थान आन्तरिक और बाह्य साक्ष्य के आधार पर चन्द्रहार ही है। श्रीनगर से लगभग पांच-छ: मील की दूरी पर ''पाम्पुर'' का चिर-विख्यात

गांव केसर की क्यारियों के कारण प्रसिद्ध है। इसी पांपुर से बायीं ओर डेढ़ मील की दूरी पर चन्द्रहार नाम का छोटा-सा गांव आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है। इस गांव की टेकड़ियों पर केसर की क्यारियों की छटा कार्तिक पूर्णिमा की चांदनी में देखते बनती है। यहां के झरने भी बड़े सुन्दर हैं।

"हब्बा" शब्द स्पष्टतः स्त्रीवाचक है और अरबी "हबीब" का संक्षिप्त रूप है। हबीबी का अर्थ प्यारा है, अतः हब्बा खातून का अर्थ हुआ प्यारी रमणी। अपने अपूर्व व्यक्तित्व के नाते वह केवल यूसुफशाह की ही प्रेयसी न थी, अपितु समस्त कश्मीरी जनता के दिल की रानी थी।

हब्बा की काव्य-साधना का प्रधान स्वर श्रृंगार है। श्रृंगार के संयोग-पक्ष का क्षणिक साक्षात्कार होने के कारण उसकी कल्पना ने इसके वियोग-पक्ष में गहरे रंग भरे हैं। जीवन की यात्रा में उसे फूल न मिल सके, अतः उसने कांटों से अपनी झोली भर ली। यूसुफ का साहचर्य पाकर भी हब्बा संयोग के गीत नहीं गा सकी। सम्भवतः जीवन के द्वार पर जो भर्त्सना उसे मिली उसकी प्रतिध्वनि बराबर उसके मानसिक धरातल को झंकृत करती रही। क्षणिक सुख स्थायी दुःख के नीचे दब गया।

हब्बा ने जिस समाज में जन्म लिया था, वह आन्तरिक शोषण और बाह्य आक्रमण के दो पाटों में पिसता जा रहा था। सामंतशाही पूरी यौवन पर थी। कश्मीर की राजनीतिक विसात पर कुशल मुगुल नाना प्रकार के मोहरे लड़ा रहा था। जनता का सुख-चैन छिन चुका था। ऐसे ही दूषित वातावरण में हब्बा का जन्म हुआ। उसके निजी जीवन की घुटन समाज में पनपती हुई कुण्ठा से कुछ कम न थी, अतः हब्बा ने जन्म-जीवन की उपेक्षा करके भी निजी जीवन के व्याज से उसका प्रतिनिधित्व किया। वह जीवन से भागी नहीं उसका काव्य इसी कारण पराजित के गीत नहीं कहा जा सकता। "स्व" में समाज को विलीन करके उसने आंसू बहाये हैं। हब्बा में व्यक्तिगत अहं इतना प्रगल्भ कि समाज का प्रतिबिम्ब उतारने के बदले उसने अपने हृदय को वाणी देना ही अधिक संगत समझा।

इसी व्यक्तिगत कविता की पराकाष्ठा "रोमानवाद" है। एक रोमानी कवि अपनी परिस्थितियों से विद्रोह करने की न क्षमता रखता और न ही समझौता करने की। अपने चारों और से निश्चिन्त होकर वह अपने में एक नये ही संसार का सृजन करता है जिसमें उसके मीठे-कड़वे अनुभव उसे प्रेरणा देते हैं। जीवन की दौड़ में वह जीत और हार के मील-पत्थर नहीं गिनता, अपनी साधना में मग्न होकर लक्ष्यप्राप्ति के लिए भी उतना उत्सुक नहीं होता।

यद्यपि ऐसी कविता सम्पूर्ण जीवन की आलोचना नहीं हो सकती फिर भी इसे संकीर्ण व्यक्ति-बोध कराने की छन्दोबद्ध रचना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मानव की व्यक्तिगत अनुभूतियों विराट् से सम्बद्ध हैं, विश्वव्यापी गुण लिए हुए हैं, हब्बा की ही तरह लाखों ऐसी ललनाएं उस समय भी रही होंगी जिन्होंने समान के प्रताड़न को गाय की तरह सहन किया, हब्बा की तरह घर से भागी नहीं। हब्बा ने अपने दर्द को ऐसी करूण-मधुर भाषा का कलेवर पहनाया कि इस तरह उन लाखों निरीह अबलाओं का भी प्रतिनिधित्व हुआ।

लौकिक प्रेम प्रधान गीतों का श्री गणेश कश्मीरी साहित्य में हब्बा के द्वारा ही हुआ। उसका "लोल" वास्तव में लौकिक प्रेम का प्रतीक है। अत: इस का प्रणय-प्रतिपादन इन्द्रियातीत न होकर इन्द्रियजनित है। इन्द्रियसुख के प्रति हब्बा में कभी वितृष्णा पैदा नहीं हुई, भोग की परिणति उसके विचारानुसार योग में नहीं, वह मुड़-मुड़ कर उस भोग को प्राप्ति के लिए लालायित है जो उससे छिन चुका है। अपने भाग्य से उसे इसीलिए रोष है। सुहागिन होकर यह वियोगिन बनने को तैयार नहीं, वियोग में भी वह संयोग का मातम करती है। "क्या खोया" यह तो उसके पद्यों की निरन्तर और अविच्छिन्न ध्वनि है। इतना सब करने के बाद भी आत्मतुष्टि नहीं अपितु व्यग्रता है, बेचैनी है; और इसी अधीरता का पुट उसके समस्त काव्य में मुखर हो उठा है। हब्बा को रंगीन और चांद-धुली रातों का एकान्त डसने लगता है, और वह हर समय अपने प्रीतम को अपने शारीरिक आकर्षण से पाना चाहती है, मनोबल उसके भाव-कोण में नहीं :

"दोद हरि रूप तन मलय
म्य च्यान्य कल गनेयम।
चन्दन वान्ि बो तन छलय
लालो कलुॅ आलवय॥"

"मैं अपने रूपहले शरीर पर उबटन मलूंगी, मुझे तुम्हारे बिन कल नहीं। मैं चन्दन के पानी से अपना शरीर धोऊंगी। हे प्यारे, तुम पर मैं अपना सिर निछावर करूंगी।"

अत: प्रेम-प्रतिपादन के हेतु हब्बा के काव्य में रागात्मक तत्त्व बहुत प्रबल हो उठा है, यह रागात्मकता हब्बा के पद्यों की प्राण है, और इसमें यद्यपि वह आत्म-

विभोर हो उठती है परन्तु आत्मविस्मृति में खो नहीं जाती। इसी कारण उसकी लोकप्रियता आज तक बनी हुई है। संवेदनशीलता तो ऐसे काव्य में स्वत: सिद्ध होती है।

उसके काव्य पर फारसी काव्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उसकी भाषा, भाव और शैली तो स्पष्टत: फारसी पद्धति के ऋणी हैं, और कहीं-कहीं पर तो हब्बा अपने अतीत से इतनी कट चुकी है कि कश्मीरी नायक-नायिकाओं के बदले फारसी काव्यों में दिये गए नायक-नायिकाओं का ही उल्लेख करती है। ''यूसुफ'' और ''जुलेखा'' के बदले वह ''नागराय'' और ''हीमाल'' का प्रयोग कर सकती थी। कहीं-कहीं पर तो फारसी शब्दों के तत्सम रूपों के प्रति उसका मोह बहुत दिखाई देता है, जैसे ''शमा'' के बदले वह कश्मीरी ''चोंग'' अथवा ''परवाना'' के बदले कश्मीरी ''पनुपोंपुर'' लिख सकती थी। सम्भवत: शिष्ट समाज में उस समय में फारसी-मिश्रित कश्मीरी का अधिक चलन रहा होगा।

हब्बा का यह करूण-मधुर विलाप वास्तव में कश्मीरी नारी की युग-युग की प्यास का पद्यात्मक अनुवाद है और जब तक कश्मीरी ललना अपने अतीत से जीवन-श्वास ग्रहण करती रहेगी, तब तक हब्बा के गीत उसकी धड़कनों के साथ एकस्वर होते रहेंगे।

सम्भवत: इसी भाव से प्रेरित होकर स्व० महजूर ने अपने एक पद्य में स्व० रसूल मीर को उलाहना देते हुए हब्बा की गरिमा का आभार स्वीकार किया :

शाहबादि रसूलमीर याद करान चन्दुहारिच जून।

तमिस क्याजि छयनु च्येतस प्यवान चन्द्रहारिच जून॥

''रसूल मीर शाहाबादी अपने काव्य में बार-बार चन्द्रहार के चांद को याद करता है (उसकी उपमायें बांधता है), उसे क्यों चन्द्रहार की जून (चांद) हब्बा याद नहीं आती है?''

इससे अधिक संश्लिष्ट, सारगर्भित श्रद्धान्जलि और क्या हो सकती है, और वह भी उस व्यक्ति के मुंह से जो आधुनिक कश्मीरी कविता का सर्वश्रेष्ठ रोमानी कवि हुआ हो।

-0-

कलकण्ठी बुलबुल

अब्दुल अहद आज़ाद – एक अध्ययन

(जन्म सन् 1903 ई०–निधन सन् 1948 ई०)

प्रकृति ने कश्मीर जैसी नवोढ़ा के लावण्यमय शरीर पर नानारंगी फूलों से एक अनबूझी कविता गूंथ डाली है। इसकी हर एक धड़कन में नदियों का शाश्वत संगीत मुखरित होता आ रहा है। इसकी चंचल चितवन में पता नहीं कितने मीठे दर्दीले रहस्य छिपे हुए हैं। इसकी मद-भरी अंगड़ाई से असंख्य बुझे हुए दिलों को नवीन यौवन प्राप्त होता है। अपनी मातृभूमि के इस मौन सौन्दर्य में सजीव सार्थकता फूंकने में 'आज़ाद' की पैनी प्रतिभा का बहुत बड़ा हाथ रहा है। प्रकृति और मानव के मधुर सम्बन्ध को उजागर करने में "आज़ाद" की देन अप्रतिम है। इस तरह "आजाद" ने कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ मानवीय आस्थाओं के एक अमिट संगम की स्थापना की; मूक मनोहर सौन्दर्य को उनकी विदग्ध कल्पना ने जबान के आकर्षक आभूषण से सम्मानित किया। इस प्रकार "आजाद" की कविता में कश्मीर की अद्वितीय सुषमा बोल उठी है। प्रकृति की इस उदारता के बीच मानव की अकिंचनता का विरोध भी उनकी कविता का विषय रहा है। इसके लिए "आजाद" ने विदेशी सरकार, शोषण तथा मानव की अपनी कमजोरियों को उत्तदायी समझा है। वह मानव को हिन्दू अथवा मुसलमान के नाम से पुकारने की अपेक्षा उसे शतशः मानव ही रहने देना चाहता है। उसका दृष्टिकोण धर्म-निरपेक्ष था, उसका विश्वास अडिग था, और उसकी कल्पना बहुरंगी थी। जीवन को वह न तो आदर्श की काल्पनिक मिठास से भिगोना चाहता था, और न ही यथार्थ की गर्म रेत से झुलसा कर मानव-मन को हताश करना चाहता था। "आजाद" ने इन दो छोरों के बीच का रास्ता अपनाना ही श्रेयस्कर समझा।[2] "आज़ाद" का सारा जीवन आर्थिक अभाव की चक्की में पिसता रहा। दस-बारह रुपये की मास्टरी पाकर उसने कभी भी अपनी मूलभूत आस्थाओं का सौदा नहीं किया। सम्भव था कि यदि वह "महाराजा सरकार" की प्रशंसा में कुछ कसीदे (प्रशस्तियां) लिख बैठता, तो उसकी गरीबी कुछ हद तक दूर हो जाती। इस प्रकार की साहित्यिक बेईमानी करके

उसके कई समकालीन व्यक्तियों ने दोनों हाथों से धन लूटा, महाराजा के कृपापात्र बन बैठे। परन्तु आजाद ने ऐसे छलावे में रहना कभी भी पसन्द नहीं किया।[3] वह अपनी आत्मा का हनन न कर सका, अत: जीवन से समझौता करने के स्थान पर इससे विद्रोह कर बैठा। इस विद्रोह में न तो खोज है और न अपना ही रोना रोया गया है। इस में स्पष्ट कारणों से उदासी हो सकती थी, परन्तु इस जागरूक कवि ने यथार्थ की निराशा को आदर्श की आशा तले डुबो दिया। घने अन्धकार में भी वह आशा के जुगनू ही देखता रहा। अत: उसकी कविता में आशावादी स्वर अधिक मुखर हो उठा। यह समष्टि के लिए संजीवनी थी, जब कि वह स्वयं विष के घूंट निरन्तर पीता जा रहा था। उसकी कविता जन-जीवन की प्रतिनिधि बन गई, व्यक्तिगत जीवन की कदापि नहीं। उसकी कविता में कश्मीर जन-मानस की धड़कनें इसीलिए समोई हुई हैं, और यही उसकी अपूर्व लोकप्रियता का रहस्य भी है। बुझता हुआ मन लेकर भी इसने अपने होठों पर सदा खिलने वाली मुस्कान को कभी भी बुझने न दिया, अत: उसकी कविता में हमें कोयल की हूक के बदले बुलबुल की मिठास घोलने वाली चहकार मिलती है। यदि वह विलाप करता है तो यह व्यक्तिगत नहीं, समस्त मानव-जाति के अभावों का मातम है, आर्थिक शोषण तथा सामाजिक असमता के प्रति उसका जोरदार विद्रोह है। वह मानव को अपनी पहचान कराना चाहता है। अपने स्वत्वों के प्रति जागरूक रहने की प्रेरणा देता है। वह जीवन से हारता नहीं, अपितु इसे मनोनुकूल दिशा देने के लिए प्रतिपल अपना नैतिक साहस समेटता जाता है। उसके गीत इसीलिए हरैली के करूणाजनक छन्द नहीं, बल्कि जीवन को सार्थक तथा स्वास्थ्यप्रद बनाने के संकल्प मात्र हैं, इनमें जीवन के प्रति तथा मानव के उन्नयन के प्रति अडिग आस्था है।[4]

यद्यपि "आजाद" ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के मधुर फल को चखा नहीं, क्योंकि वह स्वतन्त्रता पाने के झट साथ ही सांसारिक बन्धनों से स्वतन्त्र हो गये थे, परमात्मा को प्यारे हो चुके थे, परन्तु उसके काव्य ने उन नवीन मूल्यों को पहले ही आकार दिया था, जिनकी भित्ति पर नया समाज खड़ा हो सकता था। वर्तमान में ही रह कर उसने भविष्य के इन्द्रधनुषी रंगों को प्रत्यक्ष देखे बिना ही उजागर किया था। यह स्वप्निल कल्पना न होकर आगामी यथार्थ से जूझने का अग्रिम सन्देश था।[5] स्वतन्त्रता उच्छृंखलता कदापि नहीं कहलायी जा सकती। यह स्वेच्छाचारिता भी नहीं। इसे अनुशासित रह कर पालना-पोसना पड़ता है। इसकी सुरक्षा के लिए हर समय तत्पर रहना पड़ता है, राजनैतिक आजादी आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना निरर्थक है।[6] अत: इसमें उभरते मानव-मूल्यों का मीठा पैबन्द लगाना अभीष्ट है, जभी तो

स्वराज्य रामराज्य कहलाने के योग्य बन सकता है। इसी चिर-सत्य को इस विदग्ध कवि ने अपनी ओजस्विनी भाषा में वाणी दी। भले ही वह कायिक रूप से स्वतन्त्रता से अपरिचित रहा हो, परन्तु मानसिक धरातल पर वह इस से पूरी तरह वाकिफ था, वर्तमान में सासें गिनता हुआ वह वस्तुत: भविष्य में जी रहा था।[7] कश्मीरी कविता में "गुलो-बुलबुल" की रंगीन तथा नमकीन छन्द-योजना से हट कर इस भावप्रवण कवि ने वह सारी मानसिक सामग्री जुटा दी थी, जिस पर आगे चलकर मानव को नव-चेतना का शंखनाद फूंकना था। काव्य में नये प्रतिमानों को सजीव तथा अक्षुण्ण रखने के लिए "आजाद" की सतत साधना कश्मीरी काव्य में अद्वितीय है। इसीलिए इसे नव-चेतना का अग्रदूत भी कहा जाता है।[8]

सन 1967 ई० में कश्मीर-राज्य की कल्चरल अकादमी ने "आजाद" के इसी महत्त्व से प्रभावित होकर इसकी कविता का एक बृहत् सम्पूर्ण संग्रह उर्दू में छपवाया है। इसके सम्पादन का दायित्व "आजाद" के अनन्य मित्र डा० पद्मनाथ गंजू को सौंप कर इस संग्रह में मौलिकता तथा प्रामाणिकता ले आने का श्लाघनीय प्रयत्न भी किया है। इसे "कुल्याति आजाद" के नाम से अभिहित किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार उसका जीवन-वृत्त इस प्रकार है-

इसका पूरा नाम अब्दुल डार था, "आजाद" इस का उपनाम है, कवि के रूप में नाम है। यद्यपि इस नाम को इन्होंने बाद में अपनाया; प्रथमत: यह "अहद" नाम से ही कविता करता था। बाद में इसने "जानबाज" नाम अपनाया। कवि के इस नये नाम से उस समय की सरकार झुंझला उठी, और यह समझ बैठी कि यह नाम राजनीति से पोषित तथा प्रेरित है, अत: दण्ड देने के लिए इन्हें अपने गांव से जहां वे अध्यापक थे, दूर "त्राल" गांव भेजा गया, और वहीं इसने अपने लिए "आजाद" उपनाम चुना। शायद "जानबाज" से भी अधिक सशक्त, सरकारी आतंक के सामने झुकना तो उसके लहू में नहीं था। वह "रांगर" नाम वाले गांव के वासी थे। यह छोटा-सा गांव "बडगाम" तहसील के अन्तर्गत है। इसके पिता का नाम "सुल्तान डार" था, जो एक सूफी थे। अरबी और फारसी में बहुत प्रवीण। "आजाद" की प्राथमिक शिक्षा अपने पिता द्वारा ही सम्पन्न हुई। वे अपने पुत्र को "कुरान-शरीफ" पढ़ाया करते थे, और उनकी इच्छा थी कि "आजाद" भी सूफी बन जाये।[9] स्वयं "आजाद" के शब्दों में- "मगर ऐसा नहीं बन सका, क्योंकि परमात्मा ने पहले से ही मनुष्य का काम नियत कर रखा होता है।"[10]

इसके बाद उसके अग्रज 'गुलाम अली' ने एक निजी पाठशाला खोली, जहां "आज़ाद" ने भी औपचारिक शिक्षा आरम्भ की, तथा उर्दू और फारसी में

निपुणता प्राप्त की, तब सन् 1918 ई० में जब वह सोलह साल का था, उसे सरकारी तौर पर तेरह रुपये मासिक पर अध्यापक बनाया गया। उसकी यह नियुक्ति पास के ही एक और गांव ''जुबहामा'' में हुई। वास्तव में अध्यापक बनने के बाद ही उसने जरा संजीदगी के साथ विद्योपार्जन किया। फारसी और अरबी की परीक्षायें दे डालीं, अत: उन्हें सरकारी स्कूलों में इन्हीं विषयों को पढ़ाने पर रखा गया। परन्तु ''आजाद'' जीवन-भर पूर्ण स्वास्थ्य से वंचित रहा। कभी बुखार, कभी पेट का रोग और कभी निमोनिया उसे तंग करते रहे, और अन्त में इसी उदर के रोग ने उसकी जान ले ली। चार अप्रैल 1948 ई० को सायं के साढ़े सात बजे यह कलकण्ठी बुलबुल सदा के लिए मौन हो गई।[11]

''आजाद'' से पूर्व कश्मीरी कविता फारसी साहित्य से बहुत प्रभावित थी, और रोमानी गीतों का इसमें काफी चलन था। भाव और कला पक्ष में भी फारसी काव्य पूरी तरह कश्मीरी कविता पर छा गया था। कश्मीरी के एक अन्य प्रसिद्ध कवि ''महजूर'' भी इसी रेले में बह गया और उसने ''बागि निशात के गुलो नाज़ करान-करान वलो'' ''ऐ निशात बाग के फूल अटखेलियां करते-करते मेरे पास आ जाओ'' की टेक दुहराई।[12] सन् 1935 ई० में उसे ''महजूर'' का सान्निध्य प्राप्त हुआ, और वह ''आजाद'' की कविता में संशोधन करते रहे। ''आजाद'' के लिए यह नया प्रयोग था, अत: किसी सिद्धहस्त अनुभवी कवि के मार्गदर्शन को उसे आवश्यकता मालूम पड़ी, यद्यपि ''महजूर'' के प्रति उसे बहुत आदर था, जिसके फलस्वरूप उसने इस प्रख्यात कवि का जीवन-चरित्र भी लिख डाला, परन्तु विषय चयन में ''आजाद'' ने एक स्वतन्त्र लीक अपनाई। कला पक्ष ही पर वह ''महजूर'' का आभार इसीलिए मानता है।[13] आगे चल कर ''महजूर'' को स्वयं वह रास्ता अपनाना पड़ा जिसका मार्गनिर्देश ''आजाद'' ने पहले ही अपनी कविता में किया था। फारसी के प्रभाव से धीरे-धीरे कश्मीरी कविता मुक्त होने लगी, और अन्तत: इस पर स्वदेशी रंग पूरी तरह चढ़ गया। नये मानदण्ड स्वतन्त्रता के बाद उभरे और ''महजूर'' का बिम्बग्राही हृदय इनसे अछूता न रह पाया, और उसे वही दायित्व निभाना पड़ा जिसकी रूपरेखा ''आजाद'' ने स्वतन्त्रता से पहले ही तैयार कर रखी थी। रोमानवाद छू-मन्त्र हो गया और इसकी जगह जन-जागरण के प्रशस्त गीत लिखे गये। स्वदेश प्रेम की दुहाई दी गई, और मानव का मानव से प्रगाढ़ परिचय कराया गया। आर्थिक विषमता तथा सामाजिक अन्याय को समाप्त करने के लिए कवि की लेखनी ने तलवार से अधिक प्रभावोत्पादक काम किया यह समय की मांग थी। कश्मीरी जन-मानस राजनीतिक मानचित्र में नये रंगों की बहार देकर अपने जीवन को सार्थक बनाने के हेतु कुलबुला

रहा था, ''महजूर'' को परिस्थितिवश जनता की इन उमंगों को वाणी प्रदान करनी पड़ी।[14] परन्तु ''आजाद'' का महत्व इस तथ्य पर आश्रित है कि उसने स्वतन्त्रता की मांगें देखे बिना ही इस नये परिवेश में मानव की आत्मा को पहले ही सूंघ लिया था, अत: उनका काव्य स्वतन्त्रता के बाद भी सरस और लोकप्रिय रहा, बासी न बन पड़ा। सच्चे कवि की पहचान यही होती है कि वह अपनी उपजाऊ कल्पना के सहारे भावी समाज के लिए वह सब सामग्री जुटा देता है, जिसकी अपेक्षा बाद को रहती है, उसकी कविता समय और स्थान के बन्धनों को स्वीकार नहीं करती। ''आजाद'' की कविता इसी विश्वव्यापी सत्य का ज्वलन्त प्रमाण है। ''महजूर'' और ''आजाद'' की कविता में यही भारी भेद है। एक की कल्पना को समय की विवशताओं ने लगाम देकर नयी लीक पर चलने को बाध्य किया, जबकि दूसरे के मन का उबाल स्वत:-सिद्ध, बिना किसी अंकुश के, आने वाली पौध का प्रतिनिधित्व करने लगा। ''आजाद'' की मर्मस्पर्शी कविता इसीलिए उसके ''आज'' की उपेक्षा आने वाले कल की मान्यताओं से भरपूर है।

''आजाद'' के सम्पूर्ण काव्य-साहित्य का अध्ययन करने के उपरान्त यह तथ्य हम पर भली भान्ति स्पष्ट हो जाता है कि उनकी कविता के तीन चरण हैं, तीन पड़ाव निर्दिष्ट हैं जिनको लांघकर ही वह अपने लक्ष्य तक पहुंच पाया है।

प्रथम चरण

यह तो स्पष्ट रूप से प्रयोगात्मक है। इसमें कवि की कल्पना सामयिक मान्यताओं से ऊपर नहीं उठ सकी है। यह उसकी कविता का उषाकाल है जिसके झुटपुटे में उसकी प्रतिभा अन्तर्चेतना को मुखरित करने के लिए बेचैन तो है, मगर उसे यथोचित भाव-प्रकाशन का संबल मिल नहीं रहा है। इस प्रारम्भिक अवस्था में प्रौढ़ता की आशा करना चील के घोंसले में मांस खोजने के समान है। इस चरण में उसने प्रचलित ''ग़ज़ल'' का ही अनुकरण किया। यद्यपि इन ग़ज़लों में कहीं-कहीं मौलिकता के दर्शन भी होते हैं, परन्तु ये पूरी तरह फारसी के प्रभाव से-कला और भाव पक्ष में-मुक्त नहीं। इसमें पारम्परिक ग़ज़लगोई का ही प्राधान्य है; इसमें प्रेम के सांसारिक रूप को ही जबान दी गई है-

मस च्यथ गुयस मस्तान है, देवान है देवान है
चोम अश्कने मयखान है, पैमान है पैमान है।
दिल अज़ जनून थोवनम बरिथ जो नसीहथ आवरिथ
छस जिन्द आसिथ या मरिथ, देवान है, देवान है ॥[15]

"मैंने प्रेम की मधुशाला से प्याले पर प्याला भर कर इतनी मदिरा पी डाली, कि मेरे होश तो उड़ गए, परन्तु साथ ही पागल हो गई। मेरा दिल इस प्रेम की तपन से इतना आपूरित हुआ कि इसमें लोक-लाज निभाने का उपदेश स्थानाभाव के कारण समा नहीं सका। मैं इतनी बाबली हो गई हूं कि मुझे पता ही नहीं कि क्या मैं जीवित हूं या मर गई हूं।"

प्रस्तुत पद्य में यद्यपि भावों की गम्भीरता तो दिखाई देती है, परन्तु इनका वाहन फारसी में प्रचलित कला विधान है, यहां तक कि फारसी के शब्दों की भरमार भी है। यह शुद्ध कश्मीरी कविता कदापि नहीं कही जा सकती। इसी ढर्रे पर ये पंक्तियां भी लिखी गई है-

दिल जुदा जान जुदा अशक जुदा अकल जुदा।
चोर खूंखार छि बेचार जनूनस नाऽली।[16]

"असहाय प्रेम की तपन को ये चार खून पीने वाले अत्याचारी क्रमशः लिपट कर तंग करते रहते हैं-दिल, जान, इश्क और बुद्धि।"

इस पद्य में केवल "छि" (हैं आर) "नाली" (लिपटे हुए) ठेठ कश्मीरी शब्द हैं, शेष तो शुद्ध तत्सम पारसी।

इस तरह हम देखते हैं कि "आजाद" की प्रारम्भिक ग़ज़लें युग-धर्म की अनुयायी ही बन पड़ीं। कश्मीर में उस समय गजलों में इसी तरह के भाव और साथ ही शब्दों का प्रयोग होता था। "रसूल मीर", "दिलसोज़" और यहां तक कि "महजूर" की ग़ज़लें भी इस दोष से बच नहीं पाई हैं। "आजाद" इन सब से कनिष्ठ था, आयु तथा कविता-अभ्यास दोनों में; अत: उसका इस प्रचलित रेले में बह जाना क्षम्य ही है। निरन्तर अभ्यास के बाद ही प्रौढ़ता आती है, प्रथम प्रयास तो अन्धानुकरण ही होता है। ऐसे समय में अचानक समाज में प्रतिष्ठित काव्य-प्रतिमानों से हट कर नये मानदण्डों की स्थापना करने का नैतिक साहस किसी विरले अलौकिक पुरुष में ही पाया जाता है। लोकाचार का पालन करना तो मानव की बपौती है, विवशता है।

द्वितीय चरण

परन्तु फारसी के विदेशी प्रभाव से "आजाद" की यह आंख-मिचौनी क्षणिक ही थी, वास्तव में यह कविता-कामिनी को रिझाने के लिए एक नये साधक की दीक्षा-मात्र ही कहलाएगी। "आजाद" की निरंकुश आत्मा किसी से उधार मांगे मुखौटे को स्वीकारने में असमर्थ रही, अत: हमें उसकी कविता के दूसरे चरण

में प्रौढ़ता तथा सुकुमारता के दर्शन होते है। प्रारंभिक प्रसव पीड़ा से निकल कर अब उसकी कल्पना मंज कर, नपी-तुली और विशुद्ध स्वदेशी बन पाई थी उसे अपने विशिष्ट रास्ते का पूरी तरह परिचय मिल पाया था, और अब वह इसी डगर पर मनभावने कदमों से, मदमाती चाल से, अग्रसर होने के लिए पूरी तरह तैयार था। उसका मन और मस्तिष्क मकड़ी के घिनौने तथा संकुचित जालों को भेदकर, खुली हवा में पेगें भरने के लिए उतावले हो रहे थे। कविता को अपना स्वदेशी आकार मिला, और ''आजाद'' की धड़कनों को स्ववांछित संगीत-

अश्क छु फरान कमन कमन तप र्‌येशन त आलमन
अशक करान मोसमन पोश बदन कज़ालिये।
गार गयि च्ये खौरदसाली यार बनान छि द्यार वालि
मीर वुछुम बनान फचा़ली दात बनान सवालिये॥[17]

''यह प्रेम बड़े-बड़े तप ऋषियों तथा बुद्धिमानों की पूंजी हर लेता है, वे भी अपने मन को वश में नहीं कर पाते। प्रेम निष्कलुष सुन्दरियों के पुष्पों के समान लुभावने तथा कोमल शरीरों पर कालिख पोत देता है। और मेरी प्रेमिका, तू चढ़ते जोबन के द्वार पर खड़ी हो, अत: तुमने मुझ निर्धन को छोड़कर धनवानों के साथ याराना करने की तृष्णा की, मगर तुम्हें मालूम होना चाहिए कि बड़े-बड़े धन-कुबेर मुहताज बन जाते हैं, और दानवीर स्वयं दान लेने पर विवश होते है।''

इस पद्य में एक दर्दीला उपदेश है, जीवन की वास्तविकता का करूण-निरूपण। ''आजाद'' अब सपनों की दुनिया से निकलने का सानुक्रोश आग्रह करता है। जीवन के कठोर सत्य की भनक उसके कानों में पड़ चुकी है। उसे अब अनुभव हुआ है कि बाहर से मनमोहक दिखने वाले फूलों का दामन कांटों से लगातार छलनी होता रहता है। सौंदर्य में भी अपनी सीमाएं हैं और कुरूपता इसका असली विपर्यय नहीं। इन दो मन:स्थितियों के बीच बहुत ही पतली लकीर है। अब वह पीछे की ओर मुड़ने को केवल मृगतृष्णा समझता है। उसकी आंखें खुली हैं और वह जीवन को सुन्दरतम बनाने का भगीरथ-संकल्प करता है-

तुलनु कलम त लेखन सरापा, नत खोश आमद सोखनबरी छा।
गिलठ करिथ सरतले सोनुक, साद लुख लुटावन बहोदरी छा।।[18]

''हाथ में कलम उठाकर आद्योपान्त लिख डालने के अतिरिक्त मन-भावनी कविता कुछ भी नहीं, अन्यथा यह पीतल पर सोने का मुलम्मा चढ़ाना होगा,

और इस तरह सरलचित्त मनुष्यों को लूटना किसी तरह की बहादुरी नहीं कहलाएगी।''

''आजाद'' की कल्पना अब सपनों की दुनिया से उतर कर मानव के कड़ुवे यथार्थ की मीमांसा करने लगती है, परन्तु इसके साथ ही वह मानव की बुद्धि की अस्थिरता का यूं रोना रोता है–

करान गाटुल मोहबतुक संज, थवान जामन वलिथ छोरूय क्रंज।

बनान अथ जंगि जरगरी छावि रहजनी छयि रहबरी छा॥[19]

''मेधावी पुरुषों के लिए प्रेम आत्मोत्सर्ग है। इस तपन में तप कर वे केवल खाली पंजर को अपने कपड़ों से सजाते हैं, परन्तु कई उन्हें पैसा कमाने की होड़ में लगे हुए समझते हैं। कुछ उन्हें सड़क के लुटेरे मानते हैं और विरले ही उन्हें मार्गदर्शक स्वीकार करते है।''

यही तो कारण है कि समय की नाड़ी पहचान कर उसने ''गुलो बुलबुल'' के तराने गाने छोड़ दिये है–

''परान'' ''आजाद'' छु यिम तरान

हयछिथ त ज़ानिथ बुछिथ जमान।

न गुल न बुलबुल न, मय न मुतरिव

यि शायरन निशति शायरी छा॥[20]

''अब ''आजाद'' इस तरह के गीत लिखता है, क्योंकि उसने युगधर्म को देखा है, समझा है और इससे कुछ सीखा है। अब उसके विषय न ''गुल'' न ''बुलबुल'', न मदिरा और इसकी अब बुझी प्यास है। क्या कवि लोग इसे कविता समझेंगे?''

पारंपरिक लीक से हटकर उसने जब अपनी कविता को निखारने-संवारने के लिए नये क्षितिजों को छूने का मनोबल दिखाया, तो उसके मन से स्वयं यह शंका पैदा होती है कि क्या ऐसी युगान्तरकारी कविता मनवांछित स्वागत पाएगी या नहीं–

''दीनो दुनिया हावसन पथ
रावरोवुथ यी पज़्या।
मुश्कि रस्त्यन पोशनि प्यठ
दिल हरोवुथ ती पज्या॥[21]

"हे मानव, तुमने अपना धर्म और संसार दोनों भावुकता के वश में आकर गंवा दिए। क्या यह उचित था? बिना सुगन्ध के फूलों पर तुमने दिल लुटा दिया। क्या यह ठीक था?"

"आजाद" के मतानुसार यह चलन ठीक नहीं। इसे जीवन की भूल-भुलैयों में खो जाना ही कहा जाएगा। यह सोद्देश्य जीवन नहीं, अपितु छाया को पकड़ने का निरर्थ व्यायाम है।

"नसीबस छुख हदान नादान

लागान हांच तकदीरस।

यि जनत नि जहन्नम छुय

च्य पनन्यन कारन हुन्द फलय।"[22]

"हे मूर्ख, तू नसीब का रोना रोता है, और अपनी तकदीर पर लांछन देता है। वह जो स्वयं अथवा नरक तुमने ही बसाया है, वह तो तुम्हारी अपनी करतूतों का फल है।"

तो फिर मानव का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए? जरूरत से अधिक नरमी उसे पामाल करेगी। और आवश्यकता से अधिक उग्रता उसमें हिंसात्मक वृत्ति पैदा करेगी। उसे इन दो के बीच का रास्ता चुनना होगा, जभी तो वह सफल जीवन का अधिकारी हो सकेगा–

च ज्यादा नरम योद रोजख

म्येचे हन्द पाऽठय त्राविथ तर।

करी पामाल अख दुनियाह

हमेशा जाय छै खोरतल॥[23]

"यदि तू अधिक नम्रता से काम लेगा, और मिट्टी की तरह अपने आपको रौंदवाता जाएगा, तो यह दुनिया तुम्हें पामाल करके, पांव-तले जगह देगी।"

"बनख फोलाद योदवै याद थव

सुति आसि अख साथा।

बनख जंजीर शेरन हुंज

ति या खंजर नत करतल॥"[24]

"यदि तुम फौलाद बनना चाहोगे, तो याद रखो कि कभी ऐसा समय भी आएगा जब शेरों की जंजीर बन कर भी तुम खंजर अथवा तलवार बनोगे।"

"आजाद" यहां पर मानव की उस पाशविक वृत्ति की ओर साफ इशारा करता है जब वह अत्याचार और आतंक के प्रति ढाल बन कर भी स्वयं आगे चलकर इसी हिंसात्मक दृष्टिकोण का सहारा लेने लगता है। अतः इस धर्मसंकट में उसे संयम से काम लेना होगा, अन्यथा वह उस विरोध की परिपुष्टि करेगा जिसमें हिंसा से जूझने के बाद मानव स्वयं इसी अस्त्र से काम लेने लगता है। मानव के इस विरोध का साक्षी तो उसका समस्त इतिहास है।

तृतीय चरण

अब कवि मानव को अपनी पहचान कराके उसे दीन और धर्म की दरारों को पाटने के लिए प्रेरित करना चाहता है। भेद-भाव की तिलांजलि देकर उसे एक हो जाने का सार्थक प्रयत्न करने लगता है–

यि तै दुग्न्यारूकुय रंगा

त यकसानुक तरानै बजि।

नमुन ह्यो'त ब्राह्मणी काबस

मुसलमान चा़यि बुतखानस ॥[25]

"यह जो भेद-भाव, द्वैत का जो चलन तुमने अपनाया है, उसे बरबस विदा कर, एक हो जा, अद्वैत-भावना प्राप्त करने का मन्त्र मुझ से सीख। यह मन की एकता तब स्थापित होगी जब ब्राह्मण काबा की ओर झुकेंगे और मुसलमान मंदिरों में प्रवेश करेंगे।"

धर्म के असली स्वरूप और संदेश को समझने के लिए "आजाद" मानव को विश्वधर्म ग्रहण करने का अनुरोध करता है। धर्म के नाम पर मानवता को विभक्त करना खुद मानव को मूलभूत मान्यताओं को चुनौती देने के बराबर है।

"आजाद" की कविता का यह तीसरा चरण उसकी परिपक्व मानवीय आस्थाओं का दर्पण है। यह मानसिक क्रांति के बाद शान्ति का आवाहन है। कवि की कल्पना उस सारे सौंदर्य को आत्मसात् करना चाहती है जो सृष्टि के श्रृंगार मानव को जन्म से ही मिला हुआ है। यदि वह देवता होकर राक्षस बनना चाहे, मानव होकर पशुता अपनाए, तो इस में उसका अपना दोष है–

चु ओसुख गाटजारूक नूर, चे' लोगुथ नार इनासनो।

करथ इंसानियत बदनाम, हा बेआर इनसानो ।।[26]

''हे मानव, तुम विवेक के प्रकाशस्तम्भ थे, परन्तु तुम आग बन गए; तुम दयाहीन ने मानवता को बदनाम किया।''

परमात्मा ने जो दायित्व पूरा करने के हेतु तुम्हें गढ़ा था, उसके विपरीत तुम मानवता को ही नीलामी पर चढ़ाने के लिए तुले हुए हो-

मुहब्बत बागराबुन क्युत, करयोनक कोंदरतन पादा।

च्ये लोगुत दीन ईमानस, करून बापार इनसानो ।।

थव्योनै कोदरतन पनन्यन, खजानन ठानु मुचरारिथ।

च्ये आसुय बागराविथ ख्योन, बन्योख शाहमार इनसानो ।।[27]

''तुम्हें परमात्मा ने प्यार बांटने के लिए पैदा किया था, परन्तु तुमने दीन-ईमान का व्यापार करना शुरू किया।''

''प्रकृति ने तुम्हारे लिए अपने खजानों का मुंह खोल कर रखा था। तुम्हें इनसे सामूहिक रूप से लाभ उठाना था। सब में बांट कर स्वाद लेना था। परन्तु तुम फुफकारते विषधर बन कर इन खजानों को केवल स्वयं के लिए सुरक्षित करने लगे, किसी को इनकी ओर फटकने नहीं देते।''

इस प्रकार मानव को सीधे रास्ते पर लाने के लिए ''आजाद'' ने जीवन-भर धर्मयुद्ध किया। वक्रता के स्थान पर सरलता, कठोरता के बदले सौम्यता, शोषण के स्थान पर पोषण, दुराग्रह के बदले अनुग्रह, घृणा के स्थान पर अनुकम्पा, प्रतिशोध के बदले क्षमाशीलता तथा व्यक्ति के स्थान पर समष्टि के अधिकारों की भरपूर वकालत की। इस तरह जिस आर्थिक समता, सामाजिक प्रांजलता तथा राजनीतिक चेतनता का उत्तेजक राग अलापा, उस पर गांधीवाद को झलक अनायास स्पष्ट होती है। शास्त्रों द्वारा लाई गई क्रान्ति अस्थिर होती है। सर्वप्रथम मानव के दृष्टिकोण को बदलना है, उसके मन की मैल की धोना है। साम्यवादी विचारधारा के प्रति इसीलिए उसकी यह प्रतिक्रिया है-

करान गिरदाब गथ पानस, अनान अद ग्यूर तुफानस

शरफ युस साहिबे खानस, त सुय छा परजनन अन्दर ।।[28]

''क्रान्ति लाने के लिए सबसे पहले मानव को आत्मसुधार करना अनिवार्य

है। उसे अपने आपको निर्भय होकर भंवरों में डाल देना है, अभी इस अग्नि-परीक्षा से निकलकर वह तूफानों के भी होश उड़ा देगा। यही अपने गृहस्वामी (गांधी) का विशिष्ट गुण है, वैसा परायों (साम्यवादियों) में कभी नहीं हो सकता।''

इसीलिए गांधी जी के प्रति उसकी यह श्रद्धांजलि कितनी सारगर्भित है-

जहालत त्रावि नूरान, गछन अद हूर देवान।

निधुय नुन्दबोन अफताबा, छुरूजिथ यथ गुबारस मंज ॥

''संसार को वह अपने दिव्य-प्रकाश से भर देगा और तब अप्सरायें भी बौरा जायेंगी, वैसा ही मनभावन सूर्य इस समय झुटपुटे की ओट में खड़ा है।''

''आजाद'' को विश्वास है कि जब स्वतन्त्रता के बाद को उथल-पुथल शान्त होगी, जब साम्प्रदायिकता की ध्वंसकारी आग ठण्डी होगी और मानव का दिमाग सन्तुलन पायेगा, तब उस समय गांधी का सन्देश सबके लिए मार्गदर्शक बन जायेगा।

स्वतन्त्रता का आह्वान करने की भूमिका देश-प्रेम होता है, अतः ''आजाद'' ने अपनी मातृभूमि कश्मीर के प्रेम में अनेकों कवितायें रच डालीं, जिनके हर एक पद में देशभक्ति का अजस्र राग मधुरिमा के साथ जागरण बिखेर देता है-

छिस बागरान मुहब्बत

बुलबुल कुमिर करान गथ।

छिस प्याल ह्यथ अथन क्यथ

पोशे चमन मुबारक ॥[29]

''बुलबुलें यहां प्यार बांटती हैं, कोयलें इसकी परिक्रमा में मग्न हैं। मुबारक हो यह वतन जिसके बाग-बगीचे हाथों में प्याले उठाये सबका स्वागत करते हैं।''

कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य को वह देश-प्रेम के परिवेश में इस प्रकार मुखरित करता है-

''पम्पोश डल छु खामोश
ज़न रूठमुत रटिथ बोश
पांचाद्रन पिवान जोश
प्यठ संगरन मुबारक ॥[30]

"कमलों से भरपूर डल झील मौन है, जैसे रूठ गई हो और मान कर रही हो। मेरा वतन मुबारक है जहां पर्वतों से निकलते हुए प्रपात सिरफ़टोल गति से नीचे उतरते हैं।"

बीती बातों को फिर से याद करना, दुहराना मन को घुटन को निमन्त्रण देना है, अत: नये का स्वागत करते समय पुराने को भूलना ही अच्छा है–

तिम प्रानि दास्तान, गव
सीत ह्यथ जमान।
नव नव परस तरान
नव नव सोखन मुबारक ॥[31]

"वह पुरानी दास्तानों जमाने की करवट ने अतीत की बातों में बदल दीं। इसलिए अब मैं "नये" के स्वागत में गीत लिख रहा हूं, मुबारक है ये नई बातें ॥"

"आजाद" की सहृदयता प्रकृति की धड़कनों से अपने आपको अलग न कर सकी। उनका प्रकृति-चित्रण अतिरंजना से मुक्त; भावोन्मत्ता से सर्वथा अछूता है। यह सन्तुलित, समन्वित तथा अनुभूतिरंजित है। सौन्दर्य का वासना-उत्तेजक रूप कवि के लिए ग्राह्य नहीं। वह सौन्दर्य को आत्माप्रसूत मानता है, शारीरिक आकर्षण का इसके साथ कोई संबंध नहीं। उसे पूरा विश्वास है कि निष्कलुष सुन्दरता निष्कलुष भावों की जननी है। लावण्यमय शरीर वास्तव में आत्मिक सौन्दर्य का ही वाहन है, प्रतिमूर्ति है, प्रतिनिधि है–

जिन्दगी हुन्द सोज बस मने
तस न आराम त करार कुने।
तु न मरान जांह ति मऽर्यमये
रोज़ि दमाह पांचादरये ॥[32]

"जिसके मन में जीवन को आगे बढ़ाने की बात है, उसे कहीं भी पांव सहलाने के लिए अवकाश नहीं मिलता। वह मर-मर कर भी मरता नहीं। इसलिए ऐ प्रयास कुछ समय के लिए ठहर जाओ।"

''आजाद'' सूक्ष्म सौन्दर्य का पुजारी है। स्थूलता केवल इसी सूक्ष्मता को अभिव्यक्त करने का व्याज-मात्र है-

तति आसन न योनि न माल
कुफुर दीनकि कीन मलाल।
न अमीरी न गदागरिये
रोज़ि दमाह पांचादरये।।[33]

''उस प्रदेश में जहां से तुम आती हो, ऐ आबश़ग, धर्म के बाहिरी नाम पर न यज्ञोपवीत होंगे और न तसबीहें, और न वहां पर ''कुफर'' और ''दीन'' के साम्प्रदायिक झगड़े होंगे, न वहां कोई धनवान होगा और दरिद्र, इसलिए हे प्रपात, कुछ क्षण मेरे सामने रुक जा।''

इसी प्रकार ''वितस्ता'' के धीर-गम्भीर प्रवाह में वह इसके गर्भ में निहित एकता की सरगम को अधिक महत्त्व देता है-

दोग्न्यारन माऽर्य काशिरये
ह्यछनावतक कुनिरुक सोज़।
यिम ति गछ़ ह्यन तार तरतरिये
सोन्दरिये बोजि म्यान्य जार।।[34]

''हे सुन्दरी, मेरा विलाप सुन लो, ये कश्मीरी इस समय साम्प्रदायिक टोलियों में बंटे हुए हैं, उन्हें तू एकता का दर्दीला संगीत सुना दे जिससे इनका इहलोक और परलोक दोनों सुधर जायेंगे।''

यही भाव ''नदी'' के इस गीत में समोया हुआ है-

''अनान त्रेशिहत्यन आलव करिथ
छुस साल चावान त्रेश।
फो'ल्यखना दिल जिगर शेहल्यख
चल्यख पकनुक त थकनुक वेश।[35]
गहे जोयन कोलन गाह
सरबन्दन नलकन नलन अन्दर।

यिवान छुम जिन्दगी हुन्द सोज

सफरन मंजिलन अन्दर।।[36]

"मैं (नदी) तृषितों को बुला-बुला कर, उन्हें बड़े प्यार और आदर से पानी पिलाती हूं, ताकि उनका दिल प्रफुल्लित हो उठे, और निरन्तर चलने से उनकी थकन दूर हो जाये, इस प्रकार का परोपकारी रूप मैं कभी सरिताओं, कभी सरों और कभी नलकों का आकार धारण करके अपने लिए सजाती हूं, क्योंकि मुझे जीवन का आनन्द लक्ष्य की ओर लगातार चलने में ही मिलता है।"

"आजाद" का जीवन-दर्शन यही है, लगातार चलते रहना, रुकना उसके भावकोष में नहीं। धूप हो या छाया, दुर्दिन हों या सुदिन, सुख हो या दुःख, इन सबके बोझ-तले न दबकर मानव को निरन्तर लक्ष्य की ओर पांव बढ़ाते जाना चाहिए, किसी मानसिक दुराव से अभिभूत होकर ठहर जाना, स्तम्भित होना, ही असली मौत है, जीवन में कांटे ही कांटे पाकर भी "आजाद" का मन फूलों की महकीली चुभन का प्रत्येक हाव-भाव जानता है, समझता है, यद्यपि वह वर्तमान से विरक्त है, किन्तु भविष्य के प्रति अनुरक्त है। वह आश्वस्त है कि मानव के जीवन का अगला चरण सुनहला होगा। व्यक्ति के बदले उसे समष्टि में आस्था है, अपनी कुण्ठा, अपनी घुटन को वह सबके भावी सुख में डुबो देता है। वह सुकरात की तरह स्वयं विष पीकर भी जनता के लिए अमृतवर्षा करता है। उसकी लोकप्रियता का यही मूल कारण है। उसकी सांसें उस रंगीन प्रात: की प्रतीक्षा में हैं, जो मानव के अधिकारों की संरक्षिका बनेगी। उसकी धड़कनें उस सिन्दूरी ऊषा से अनुरंजित हैं, जो मानव को अपनी पहचान करायेगी। कटुता के निर्मम प्रहारों से बिंध कर भी वह मानवता के लिए मिठास का अग्रदूत बनता है। उधार मांगे क्षणों से बुना हुआ उसका जीवन, भावी पीढ़ी के लिए स्थायी सुख तथा समृद्धि का जामिन है। उसका दिल भविष्य में है, चाहे उसका शरीर वर्तमान में हो। उसे पूर्ण विश्वास है कि मानव जाति उसे कभी न कभी अवश्य याद करेगी, जभी तो उसकी साधना सफल होगी-

आलम हा करि याद "आज़ाद" "आज़ाद"।

कुनि सात बुछत याद पावै मदनो।।[37]

"यह संसार किसी समय "आजाद" "आजाद" अवश्य पुकारेगा। हे मेरे प्यारे-प्रतीक्षा में रहो, मैं तुम्हें उस घड़ी याद दिलाऊंगा।"

''आजाद'' की प्रतिभा बहुमुखी थी। उसने बहुत सुन्दर गद्य भी लिखा। इस दिशा में विशेषकर ''कश्मीरी भाषा और कविता'' उनकी अमर देन है। परन्तु हम यहां पर उनका कवि रूप ही उजागर कर रहे हैं, अत: उनके गद्य की समीक्षा यहां अप्रासंगिक कही जा सकती है।

कवि मृत्युंजय कहलाता है, देश-काल की सीमायें उसे बांध नहीं पातीं। उसकी रचनायें उसे सदाबहार रखती हैं, इसलिए ''आजाद'' की कविता ने स्वतन्त्रता के बाद भी कश्मीरियों का नेतृत्व किया, जबकि उसका पार्थिव शरीर उठ गया था। कश्मीरी जन-मानस में जब तक मानवीय आस्थाओं तथा मूल्यों की गंगा-जमुना का पावन संगम उद्वेलित होता रहेगा, तब तक ''आजाद'' मर न पायेगा। कश्मीरी उदार संस्कृति का यह सजग प्रहरी वैसे ही अमर है जैसे उसकी मातृभूमि के उन्नत शैल-श्रृंग, जो हजारों वर्षों से उस भाईचारे के प्रत्यक्ष दर्शक और रक्षक हैं, जिसका संगीत आज भी यहां के नदी-नाले प्रतिध्वनित कर रहे हैं।

इसी अनमोल भाव से प्रेरित होकर कश्मीरी कविता-कामिनी के चूड़ामणि ''महजूर'' ने उसे फारसी में यह भाव-भीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इसमें से फारसी ''अबजद'' के अनुसार ''आजाद'' की मरण-तिथि की ध्वनि भी निकलती है। जो सन् 1948 ई० बनती है-

''आह आजाद अज जहां रूपोश शुद

या कि अज जाने बका मदहोश शुद।

बहरहाल रहल्तश ''महजूर'' गुफ़त

बुलबुले शीरीं बयान खामोश शुद॥[38]

''बहुत दु:ख है कि ''आजाद'' इस संसार से कहीं जाकर छिप गया अथवा जीवन की मदभरी प्याली पीकर अपने पार्थिव होश खो बैठा, जो भी हो, उसने यहां से वैसे ही प्रयाण किया, जैसे कोई कलकण्ठी बुलबुल अचानक मौन हो जाये॥''

-0-

---

1. यह नाम ''महजूर'' द्वारा दिया गया है, 2. ''पैयामि आजाद'', कविता नं० 77, पृ० 395, 3. श्री डी.एन. पारिमू- ''काशुर समाचार'' -दिसम्बर 1974, पृ० 4-6, 4. श्री शमीम अहमद शमीम- ''आजाद-नम्बर'', तैमीरि जदीद पत्रिका-1949, 5. ''पैयामि

आज़ाद''–कविता नं० 70, पृ० 382, 3. वही, कविता नं० 87, पृ० 410, 6. 'पयामि आज़ाद'– कविता नं० 87 पृ० 410, 7. ''निदाए हातिफी'', कविता नं० 19, पृ० 235, 8. डा० पद्मनाथ गंजू– ''कुल्याति आजाद'', पृ० 77–100, ''आजाद'' की कविता ''इन्कलाब'' 9. आज़ाद की कविता ''इन्कलाब'' पृ० 35, वही 9. आजाद की कविता ''इन्कलाब'', पृ० 40, 10. वही, 11. वही, 12.''कलामि–महजूर''–प्रथम, 13. श्री डी०एन० पारिमू–कोशुर समाचार, दिसम्बर 1978, पृ० 6. 14. द्रष्टव्य–उनकी प्रसिद्ध कविता ''वली हा बाग गानो'' ...., 15. ''गजलियात'' कविता नं० 221, पृ० 603, 16. ''कुल्याति आजाद''–पृ० 74, 17. ''कुल्याति–आजाद'' पृ० 65–66, 18. ''पैयामि–आजाद'' – कविता नं० 129, पृ० 470, 19. ''पैयामि–आजाद'', 20. वही, 21. वही, 22. वही, कविता नं० 131, पृ० 472, 23. ''कुल्याति–आजाद'', 24. वही, 25. वही, 26. ''कुल्याति–आजाद'' पृ० 70, 27. ''पैयामि–आजाद'', 28. वही, 29. बादे वतन–कविता नं० 3–पृ० 183, 30. बादे वतन–कविता नं० 3, पृ० 184, 31. वही, 32. ''कुल्याति–आजाद'', पृ० 48, 33. कुलयाते आज़ाद, 34. मनाज़रि कुदरत, 35. वही, 36. वही, 37. ''कुल्याति–आजाद''–समर्पण पृष्ठ, 38. कुलयाति आज़ाद–समर्पण पृष्ठ

खण्ड-चार

<u>विविध</u>

- कश्मीर में हिन्दी प्रचार और प्रसार -एक सर्वेक्षण–189
- प्रतिनिधि सम्पादकीय–200
- हिन्दी कवितायें
  (1) चैतन्यमाला–204
  (2) इति।–207

कश्मीर में हिन्दी का प्रचार-प्रसार

एक सर्वेक्षण

कल

[चौदहवीं शताब्दी से सन् 1947 ई० तक]

किसी भी भाषा के प्रचार-प्रसार का सबल माध्यम इसका सृजनात्मक लेखन होता है। इस लेखन की प्रेरणा इस भाषा के साथ मानसिक अभिरुचि संजोती जाती है जो कालान्तर में जनमानस को इस भाषा के प्रति आकृष्ट होने पर बाध्य करती है। समाज और राजनीति इसके पोषक बनकर सर्वसाधारण में इस भाषा के प्रति मोह पैदा करने के उत्तरदायी बनते हैं, समाज इस थाती का संरक्षक बन जाता है और राजनीति सोद्देश्य प्रहरी। हिन्दी-भाषा इस सनातन सत्य का अपवाद कैसे बन पाती। कश्मीर का सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक इतिहास इस तथ्य की शतशः पुष्टि करता आया है। इसी के परिप्रेक्ष्य में हमें यही संगत जान पड़ता है कि कश्मीर में हिन्दी के प्रचार-प्रसार से पूर्व यहां हिन्दी-लेखन के प्रति जनता के उत्साह को उजागर किया जाये। स्पष्ट कारणों से यह एक विहङ्गम दृष्टि के रूप में ही प्रस्तुत करना अभीष्ट होगा।

परन्तु इसके साथ ही हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि कश्मीरी-भाषा में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों की प्रचुरता है। यहां तक कि कई मनीषी इसे अस्सी प्रतिशत मानने पर भी तैयार हैं।[1] संस्कृत हिन्दी की जननी है, अतः कश्मीरी जनता जन्म भाषा के व्याज से हिन्दी बोलती तथा समझती आई है यदि इसका सम्बन्ध अचेतन से ही क्यों न रहा हो, यही कारण है कि कश्मीरी लोग हिन्दी को सीखने, पढ़ने, लिखने तथा समझने में किसी भी कठिनाई का अनुभव नहीं करते, यह प्रतिभा उनके लिए संस्कार-जन्य है।

इतना अनुकूल परिवेश होते हुए भी हमें यह स्वीकारना होगा कि 'कल' के कश्मीर में औपचारिक रूप से हिन्दी को बढ़ावा देने के प्रति उतना उत्साह दिखायी नहीं देता । राजनीतिक सुविधा ने कश्मीर में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के साधन शिथिल बना दिये, सन् 1339 ई० में जब कश्मीर की राजसत्ता सुल्तानों के हाथ लगी तो उन्होंने प्रत्यक्ष मांगों का आदर करते हुए संस्कृत के स्थान पर फारसी को राजभाषा का गौरव प्रदान किया।[2] इनके बाद मुग़लों, पठानों तथा सिक्खों ने भी इसी व्यवस्था को जारी रखा, यहां तक कि डोगरा शासकों ने भी उर्दू को ही अदालती भाषा बनाने में किसी भी प्रकार का संकोच प्रदर्शित नहीं किया।[3] परन्तु इस संदर्भ में यह कहना भी नितान्त समुचित होगा कि जब महाराजा रणवीर सिंह ने "धर्मार्थ" की स्थापना की, तो इसका एक उद्देश्य हिन्दी को फलने-फूलने के सुअवसर प्रदान करना भी था।[4] अतः हिन्दी को इस तरह अपने पैर फैलाने के लिए यथेष्ट भाव-भूमि उपलब्ध हुई। यह एक अनौपचारिक कदम ही था, जबकि हिन्दी को राज्य-सरंक्षण नहीं मिल सका, परन्तु सार्वजनिक स्तर पर हिन्दी की यथेष्ट प्रगति भारत से आने वाले साधु-महात्माओं के आदान-प्रदान ने हिन्दी को सनाथ बनाने की दिशा में प्रशंसनीय दायित्व निभाया। उमा-पार्वती की इस विहार स्थली ने[5] हिन्दी के लिए अपने कपाट खोल दिए। यह वास्तव में मानसिक आग्रह था, बलपूर्वक दुराग्रह कदापि नहीं।

काश्मीरी दार्शनिक शितिकण्ठ[6] के 'महानय प्रकाश''[7] में हमें सर्वप्रथम शुद्ध हिन्दी शब्दावली के दर्शन मिलते हैं। यद्यपि इन्हें काश्मीरी रूप-रंग में प्रस्तुत किया गया है--

ई तय अवलीन परस्पर
दीपमाला ज़न अन्धकार।
घमित धाम उदयेत निरन्तर
दिशि शपायवतु अविकार॥

प्रस्तुत पद्य में 'ई', 'तय' और 'जन' ही केवल काश्मीरी शब्द हैं, शेष तो हिन्दी के तत्सम रूप हैं। इसी डगर पर योगेश्वरी लल्ला[8] ने भी

चलने को श्रेयस्कर समझा-

दमू दमू ओंकार मन परनोचुम
पानै प्रान अपानै बोज़ान।
सोऽहम् परस अहं गोलुम
त्येलि लल ब्रू बोचूस प्रकाशस्थान॥[9]

इस 'वाक्'[10] में रेखांकित शब्दों के अतिरिक्त सब हिन्दी है।

अलमदारि कश्मीर[11] ने भी इसी स्वर से स्वर मिला कर हिन्दी का मुख उज्जवल किया--

अन्त्र कालिहि चेतन प्येयी
पर प्रकाश त्रिय धन वोपशी॥
सत्त प्रकाश अन्त्र है उल्लसी
साद्र पज़ी सहज़ा करी॥[12]

रेखांकित शब्दों को छोड़कर इस "श्रुक"[13] में हिन्दी का प्रचुर प्रयोग किया गया है।

रहस्य वादिनी रूप भवानी ने भी इस लीक पर अपनी पद-छाप डाली-

ओम् ग्वर अन्तर तथ निर्मलम्
शुद्धं अत्यन्तं विद्याघरम्।
लल नाम लल परमा ग्वरम्
शिव-माधव नाहं परं ब्रह्मसोहम्॥[14]

इस पथ में यदि 'ग्वर' को गुरु का काश्मीरी उच्चारण और 'तथ को इसी प्रकार 'तथ्य' का काश्मीरी उच्चारण माना जाए तो यह सारे का सारा पद्य हिन्दी ही प्रतीत होता है।

इतना सब कुछ कहने पर भी हम बिना किसी झिझक के यह कह सकते हैं कि वास्तव में हिन्दी का स्वतन्त्र पद्यमय लेखन-भक्तप्रवर

परमानन्द[15] से ही आरम्भ हुआ-

जागो जागो श्यामा चढ़ गया दिन,

आ दूध पीने जायोन्हायो वदन।[16]

उनके शिष्य लक्ष्मण जू बुलबुल ने हिन्दी में इस प्रकार की तुक बांधी-

सूर्य रूप माया है तेरी छाया,

जिसका भेद कोई भी न पाया।[17]

कृष्ण जू राज़दान ने हिन्दी के साथ डोगरी/पंजाबी का यूं मिश्रण किया-

अरे राजे की राजकुमारी,

गल तो मेरी सुन।[18]

श्रीमती अन्नी बेसन्ट के सौजन्य तथा महाराजा प्रताप सिंह के सद्प्रयत्नों से जब श्रीनगर में पहले हिन्दू कालिज तदुपरान्त श्री प्रताप कालिज की स्थापना हुई,[19] तो हिन्दी-प्रचार के लिए ठोस काम करने के अवसर प्राप्त हुए। शिक्षा-संस्थाओं में हिन्दी पठन-पाठन का सुचारु प्रबन्ध होने के कारण कालिजों तथा स्कूलों में हिन्दी-परिषदों ने इस दिशा में सार्थक सहयोग दिया। इस तरह काश्मीरी जन-मानस में हिन्दी प्रचार का जो बीजारोपण हुआ। उसे यथेष्ट सिंचन-सामग्री मिलने पर एक नन्हे पौधे का आकार प्राप्त हुआ, इसी तरह सार्वजनिक संस्थाओं ने अनुकूल वातावरण से प्रेरणा पाकर हिन्दी प्रचार के लिए प्रभावोत्पादक क़दम उठाये। इनमें आर्य समाज वज़ीर बाग, श्रीनगर, महावीर दल, तथा हिन्दी परिषद् उल्लेखनीय हैं। आर्य समाज के अगुआ समर्थकों में स्व० डा० कुल भूषण,[20] स्व० चिंरजीत लाल[21], स्व० बाबा बलवन्त सिंह[22] पंडित श्रीधर कौल डुलु, पं ताराचंद सप्रू, पं० जानकीनाथ विद्यार्थी आदि ने हिन्दी की अनथक सेवा की, आर्य समाज लाहौर से दीक्षित पं० कश्यप बन्धु[23] ने भी हिन्दी प्रचार का पथ प्रशस्त किया। महावीर दल ने सर्व प्रथम हिन्दी समाचार पत्र 'महावीर' नाम से प्रकाशित किया, इसके सौम्य शिष्ट सम्पादक स्व० दीना नाथ 'दीन'[24] अस्वस्थ होते हुये भी इस शुभ-संकल्प को स्वस्थ दिशा देने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कश्मीर हिन्दी परिषद् के प्रधान स्व० अमरनाथ काक को

हिन्दी के प्रति सतत लगन के कारण ही पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से सम्मानित किया गया। यह अधिवेशन अबोहर में सम्पन्न हुआ। कालिजों की मुख-पत्रिकाओं में हिन्दी खण्ड जोड़े गये, छात्र-स्तर पर इस खण्ड को दिलचस्प बनाने में प्रो० पुष्प जी, वीर विश्वेश्वर जी, डा० अर्जुन नाथ रैणा आदि ने बहुत अच्छा योगदान दिया। अध्यापकों में प्रो० जगद्धर जी जाड़ू स्व० जियालाल कौल, स्व० गोविन्द जू राज़दान, तथा स्व० प्रो० श्री कंठ तोषखानी ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण दायित्व निभाया। प्रो० तोषखानी महोदय की सद्प्रेरणा द्वारा स्त्री-शिक्षा के निमित्त 'वुमन वेल्फियर ट्रस्ट' की स्थापना की गई जिसमें हिन्दी के पठन-पाठन को सर्वप्रिय बनाने के लिए कई श्लाघ्नीय योजनायें तैयार की गई और इन्हें कार्य-रूप भी दिया गया। इन अध्यापकों की पंक्ति में जब पुष्प जी भी शामिल हुये तो इन्होंने हिन्दी की सक्रिय साधना करने में अगली पीढ़ी का यथोचित मार्ग दर्शन किया। कुल मिलाकर अब हिन्दी के इन नन्हें पौधे में से मन भावनी कोंपलें फूटने लगीं, और जनता ने इस भाषा का खुले दिल से अभिनन्दन किया।

ठाकुर जू[25] मनवटी ने हिन्दी के प्रति उद्‌गार को यह वाणी प्रदान की:-

कर दया तू हे दयालू दे तू आंखें ज्ञान की,
तम से गम में थम गया हूं, चाह मुझे निर्वाण की।[26]

इन गरिमा शाली महानुभावों के अतिरिक्त जन-सम्पर्क को सुदृढ़ बनाने के लिये हिन्दी को अब श्रीनगर के बाजारों गलियों में ले आने का श्रेय नाटक-मण्डलियों को है। इन में अमीराकदल[27] में प्रताप भवन के कार्य कर्ताओं का बड़ा हाथ रहा है। स्व० बाबू कृष्णदास ने राम-लीला का नाटकों द्वारा आयोजन करके इस दिशा में सराहनीय काम किया, इस प्रांजल कार्य-क्रम से प्रेरणा पाकर अन्य नाटक-मण्डलियों ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' और अन्य पौराणिक आख्यानों को हिन्दी द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत करके जन-साधारण को हिन्दी के प्रति आकृष्ट किया, उन दिनों स्व० शम्भू नाथ कौल, श्री शम्भू नाथ भान तथा स्व० विदलाल दर जाने माने अभिनेताओं का सम्मान पाने लगे, इस प्रकार हिन्दी साहित्य और जीवन के बीच की दरारों को पाटने में बहुत सीमा तक सफलता प्राप्त हुई। जन-मानस ने इस नये माध्यम का निसंकोच अभिनन्दन किया, स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व वह परिवेश लगभग तैयार हो चुका था जिस पर आगे चलकर साहित्यकारों

ने अपनी कल्पना की जी-भर के पेंगे ली, हिन्दी अब वयस्क हो चली थी, घुटनों के बल चलने तथा अन्य किसी सहारे की उंगली पकड़ कर अग्रसर होने की इसे अब कोई अपेक्षा न थी। मां भारती ने उमा की नगरी पर वरद हस्त में आर्शीवाद दिया, जिसके फलस्वरूप इस अहिन्दी प्रदेश में हिन्दी को पनपने तथा स्थायी साहित्य-सृजन के सुअवसर सुलभ हुये। स्व० मास्टर[28] जी ने अपने 'पत्र-पुष्प' में इसी सप्राण वातावरण का इस प्रकार आवाहन किया :-

सारे देश में चल पड़े जिससे प्रेम की लहर।

सींचे सूखे खेत को यह गंगा की नहर॥[29]

स्व० मास्टर जी की शैली समय की मांगों के अनुरूप अपने उद्गार को दर्शन का यह कलेवर देने में सफल हुई:-

जड़ प्रकृति तब कालान्तर में

क्रम से उन्नति पाती है।

अन्त में प्रेम और प्रज्ञा द्वारा

प्रभु में जाय समाती है॥[30]

लगभग इसी समय स्व० जयशंकर प्रसाद ने कामायनी का सृजन किया। मास्टर जी की बहुमुखी प्रतिभा ने हिन्दी के महारथी प्रसाद जी के समान ही हिन्दी के स्वभाव और मुहावरे को अपनी आस्थाओं का रंग देकर जनता के सामने प्रस्तुत किया और इस तरह सिद्ध किया कि कश्मीर की हिन्दी बनारसी हिन्दी के प्रवाह तथा भाव प्रवणता में इसके समकक्ष बिठायी जा सकती है। मास्टर जी ने हिन्दी-दोहे का इस प्रकार प्रणयन किया :-

प्रेम तो सुख प्रत्यक्ष है, द्वेष प्रकट संताप।

प्रेम समान तो पुण्य नहीं, द्वेष समान न पाप॥।[31]

एक ओर मास्टर जी ने आधुनिक हिन्दी के प्रति आग्रह दिखाया तो दूसरी ओर पूर्वी हिन्दी की शैली को अपनाने में भी उन्हें बड़ा आनन्द मिला। गोस्वामी तुलसी और प्रसाद जी के भाव तथा कला पक्ष को अपनाकर मास्टर

जी ने कश्मीर में हिन्दी को अमरता तथा लोकप्रियता की संजीवनी पिला दी। वास्तव में हिन्दी के सोद्देश्य प्रचार के लिये हिन्दी साहित्यकारों को अगली पीढ़ी ने इसी स्वस्थ मार्ग दर्शन को गुरु-मन्त्र समझा। कश्मीर में पोषित पल्लवित तथा पुष्पित हिन्दी में वितस्ता की देशीय लहरों का सरगम समोया हुआ है, इसमें कुंवारी हिम-शृंखलाओं का तारतम्य है। इस में कश्मीरी संस्कृति, धर्म, विश्वास तथा जीवन स्वकीय कश्मीरी चाल ढाल से प्रतिबिम्बित होते हैं, इसका निजी मिजाज है और इसका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व। सम्भवत: इसी धारणा को मुखर करते हुये 'नादिम जी'[32] ने इस प्रकार यह सत्य उद्घाटित किया:-

दुर्योधन की दावत डोले।

खाये विदुर का सूखा साग॥[33]

इस प्रकार हिन्दी-प्रचार का प्रांजल कार्यकलाप बनता-संवरता तथा सार्थक मनोबल समेटता हुआ लम्बे-लम्बे डग भर कर 1947 ई० की चौखट पर एड़ियां रगड़ने लगा। इसे एक ऐसे अनुकूल जल-वायु की अपेक्षा थी जो इसके भावावेग को स्वस्थ दिशा दे सके, भारत के साथ कश्मीर के स्थायी सम्बन्ध ने यह दायित्त्व पूरा किया।

आज

[1947 ई० से आज तक]

भारत सरकार ने जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा का सम्मान दिया, तो इसके फलस्वरूप वहां की प्रशस्त हिन्दी-संस्थाओं के साथ यहां के हिन्दी-प्रेमियों ने एक सोद्देश्य सम्पर्क स्थापित किया। वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की एक शाखा यहां पर भी खुल गई। परीक्षाओं के माध्यम से हिन्दी-प्रचार में गतिशीलता आनी स्वाभाविक थी, आज तक इस कश्मीर-शाखा ने लगभग पन्द्रह हज़ार मुसलमान तथा दो हज़ार से अधिक बौद्ध-भाइयों को हिन्दी से परिचित कराया। इस संस्था को स्व० शम्भूनाथ[34] पारिमू का सक्रिय नेतृत्व मिला, और आजकल यह जम्मू-कश्मीर की सबसे बड़ी हिन्दी-संस्था कहलाने का गौरव पा चुकी है। युवक-वर्ग ने अपनी मानसिक तृष्णा को प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन का संरक्षण पाकर शान्त किया। वास्तव में आज की पीढ़ी जिस प्रकार के हिन्दी-प्रचार तथा साहित्य-सृजन के प्रति

उत्सर्गशील है, उसका आदि-स्त्रोत यही कश्मीर हिन्दी साहित्य सम्मेलन है, इस नवोदित प्रतिभा को मुखर रूप देने में सर्व श्री शशि शेखर तोषखानी[35] चमनलाल सपरू[39], ओंकार काचरू[36], निर्मला जी काचरू[37], डा० रतनलाल शान्त[38], हरिकृष्ण कौल[40], पृथ्वीनाथ राज़दान, पृथ्वीनाथ ''मधुप'[42] आदि अग्रगण्य थे, इनके अतिरिक्त श्री मोतीलाल क्यमू[43] ने 'अभिनव भारती' नाम से हिन्दी रंगमंच की नींव डाल दी, जिसने बहुत से हिन्दी नाटकों का सफल अभिनय किया। उनकी नाटक-मण्डली में श्री प्यारे लाल कौल[44], श्री प्यारे लाल हण्डू[45], श्री मोहन किशन तिकू आदि बहुत प्रख्यात हुये। हिन्दी-प्रचार की इस त्रिवेणी-परीक्षायें, साहित्य सृजन, रंगमंच-ने कश्मीर में वह मनोनुकूल जलवायु जुटा दिया जिसकी छत्रछाया में अब ठोस साहित्य सृजन की ओर ध्यान देना अनिवार्य हो गया। इसके परिणाम स्वरूप हिन्दी कवितों का ज्वार सा उमड़ आया। इन कवितायों में मोहन[46] निराश, मधुप, तोषखानी, शान्त आदि समर्थ हिन्दी-ज्ञाताओं ने अपना अविस्मरणीय योगदान दिया, इनके साथ ही कश्मीरी साहित्य को हिन्दी-जगत के सामने हिन्दी की वेष-भूषा से अलंकृत करने का श्रेय भी इन्हीं कवियों को है। मौलिक साहित्य-सृजन के साथ-साथ अनुवाद कार्य को भी यथोचित प्रोत्साहन मिला, और इस दिशा में जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी की देन प्रशंसनीय है। पद्य के साथ-साथ गद्य का सृजन भी पूरी तन्मयता से किया गया, कई कविता-संकलन तथा गद्य-संकलन भी प्रकाशित हुये, हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'कश्यप'[38] मासिक पत्रिका ने इस प्रतिभा को फलने-फूलने के सार्थक साधन जुटा दिये।

कई सांस्कृतिक तथा सामाजिक संस्थाओं ने भी हिन्दी-प्रचार को गति-शीलता प्रदान करने में कोई कसर उठा न रखी, समाज-सुधार-समिति श्रीनगर ने नाटक-विभाग की स्थापना करके हिन्दी-नाटकों तथा एकांकियों को जनता के सामने दृश्य-रूप में प्रस्तुत किया, ब्राह्मण महामंडल ने 'प्रकाश' नामक पत्रिका चालू करके कश्मीर के आस्तिक धर्म-विश्वासों को हिन्दी के माध्यम से जनता तक पहुँचाने का शुभ-कार्य शुरू किया। रेडियो कश्मीर को निदान हिन्दी की ओर आकृष्ट होना पड़ा और 'युववाणी' स्तम्भ के अन्तर्गत हिन्दी में 'विविधा', 'नवलेखन' इत्यादि कार्यक्रम सप्ताह में एक बार प्रसारित करने का प्रबन्ध किया गया, दूरदर्शन कश्मीर ने भी हिन्दी के

कई कार्यक्रमों को अपने दैनिक प्रसारणों में शामिल किया, इस प्रकार हिन्दी को कश्मीर की कुकुंम-केसर उगलने वाली धरती की धड़कनों के साथ समस्वर होने के अवसर सुलभ हुये, कश्मीर विश्वविद्यालय में हिन्दी का स्नातकोत्तर विभाग खुलने से हिन्दी के प्रचार-कार्य को एक स्वस्थ दिशा मिली, इस विभाग ने 'वितस्ता' नामक मुख-पत्रिका प्रकाशित करने से हिन्दी-छात्रों को अपनी प्रतिभा की परिमार्जित वाणी देने के द्वार खोल दिये।

गद्य जो पहले उपेक्षित-सा रह गया था उसकी ओर अब समुचित ध्यान दिया जाने लगा, प्रो० चमनलाल सप्रू ने 'सन्तूर के स्वर'[39] नामक गद्य-रचना लिख डाली, प्रो० हरिकृष्ण कौल के दो कहानी संकलनों 'इस हमाम में' तथा 'टोकरी भर धूप' का प्रणयन करके कश्मीर में पनपती हिन्दी को भारत की टकसाली हिन्दी के समकक्ष खड़ा कर दिया, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (जम्मू कश्मीर) ने ''नीलजा'' नामक वार्षिक संकलन द्वारा यहां के हिन्दी-लेखकों को जनता के सामने आने के सुयोग्य अवसर पैदा किए, नई प्रतिभा की खोज भी होने लगी, 'शीराजा'[40] (हिन्दी) ने भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण काम किया, इसके अतिरिक्त 'हमारा साहित्य'[41] वार्षिक संकलन द्वारा यहां के हिन्दी-प्रेमियों को अपना उबाल हिन्दी के माध्यम से अनूदित करने का सुयोग प्राप्त हुआ।

हिन्दी अब पूर्ण रूप से प्रौढ़ हो चली थी, अतः इसके कला और भाव पक्ष में विविधता तथा सजीवता के दर्शन मिलने लगे, अतुकान्त कविता का चलन आरम्भ हुआ, मुक्त छन्दों में हिन्दी कविता पर अंग्रेजी कवि ईलियट तथा फ्रांसीसी मनीषी सात्रें का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होने लगा, विषय और शैली की इस नवीनता ने हिन्दी में जैसे प्राण फूंक दिये। इसके अतिरिक्त हिन्दी में कई खोज-पूर्ण शोध-प्रबन्धों का प्रणयन भी होने लगा। जिसके लिये कश्मीर विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यक्ष डा० शर्मा महोदय ने अपने छात्रों तथा सहकारियों को सार्थक प्रेरणा तथा मौलिक मार्ग-दर्शन सुलभ बना दिया।

डा० त्रिलोकीनाथ गँजू ने कश्मीरी भाषा के उद्‌गम पर एक पाण्डित्यपूर्ण शोध प्रबन्ध की रचना की, डा० मोहिनी कौल ने 'लल्लेश्वरी तथा कबीर' की तुलनात्मक समीक्षा की। डा० अयूब प्रेमी और डा० निज़ाम उल्दीन ने

भी इस दिशा में सराहनीय काम किया।

इस प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में यह बात दुहरानी यहां पर समीचीन दिखाई देती है कि कश्मीर में सब भाषाओं के प्रति एक जैसा प्रेम और आदर है। यहां पर कभी भी भाषा के नाम पर विरोध ने भाई को भाई से अलग नहीं किया है, कश्यप ऋषि की इस मानस-पुत्री का कलेवर जितना आकर्षक है उतनी ही इसकी आत्मा सहनशील है, यही कारण है कि गत वर्ष से राज्य-सरकार ने उर्दू (राज-भाषा) और हिन्दी (राष्ट्रभाषा) को अध्यापक वर्ग के लिए अनिवार्य विषय घोषित किया, इस तरह हिन्दी को कश्मीर में अपनी जड़ें दूर-दूर तक फैलाने के लिए अनुकूल-भावभूमि संजोयी गई।

भौगोलिक रूप से यदि कश्मीर पर्वत-मालाओं की उत्तुंग प्राचीर से घिरा हुआ है, परन्तु मानसिक धरातल पर यह भारत के जन-मानस के साथ अटूट रूप से सम्पृक्त है। 'एक हृदय हो भारत जननी' का ज्वलंत प्रमाण हमें कश्मीर के चप्पे-चप्पे से स्वत: मिल जाता है। राष्ट्रभाषा के प्रति यही अडिग आस्था सर्वसाधारण कश्मीरी की समय की नाड़ी को पहचान कर उसके साथ हो लेने की अचूक सजगता की स्वास्थ्यप्रद जमानत है।

-0-

---

1. सर जार्ज ग्रियर्सन (लिंगविस्टिक सर्वे आफ इंडिया) एवं सर रिचर्ड टेम्पल (लल्ल वाक्यानि, भूमिका)।2. ज़ोनराजतरंगिणी, 3. के० एम० पनिकर-गुलाबसिंह, 4. यह संस्था जो अब ट्रस्ट बन चुकी है : सन् 1885 ई० में स्थापित की गई। 5. नीलमतपुराण द्वारा कश्मीर को दिया गया नाम।6. तेरहवीं शताब्दी, 7. ज० क० रिसर्च विभाग द्वारा प्रकाशित। 8. चौदहवीं शताब्दी। 9. 'ललद्यद' ज० क० कल्चरल अकादमी द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित। 10. लल्ला के पद्यों का पारिभाषिक नाम। 11. चौदहवीं शताब्दी--उत्तरार्द्ध, 12. 'नूरनामा' -ज० क० कल्चरल अकादमी प्रकाशन, 13. 'श्लोक' का काश्मीरी रूपान्तर 14. श्री रूपभवानी रहस्योपदेश:। 15. अठाहरवीं शताब्दी। 16. राधा-स्वयंम्बर, 17. लीला-काव्य, 18. शिव-लग्न, 19. सन् 1904 ई० में, 20. राज्य सरकार में हेल्थ आफिसर थे।21. एक धर्मशील व्यापारी, 22. राज्य शिक्षा-विभाग में इन्सपेक्टर रह चुके थे, 23. असली नाम

तारा चन्द, कश्मीर की राजनीति में उनका उल्लेखनीय स्थान रहा है, 24. हिन्दी के समर्थ प्रचारक स्व० दुर्गा प्रसाद काचरू के अनुज, 25. उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध, 26. उनकी फुटकल अप्रकाशित रचना से, 27. आजकल इस विशिष्ट बाजार को 'लाल चौक' का नाम दिया गया है। 28. असली नाम ज़िन्दा कौल, साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता। 29. पत्र-पुष्प, 1941 ई० में प्रकाशित से, 30. वही, 31. वही, 32. असली नाम श्री दीनानाथ कौल, काश्मीरी भाषा के सिद्धहस्त कवि। 33. श्री प्रताप कालिज मेगज़ीन, हिन्दी खण्ड-1936 ई० से, 34. वे व्यवसाय से हकीम थे, 35. प्रो० श्रीकंठ तोषखानी के सुपुत्र, पूर्व राज्य सरकार के सूचना विभाग के एक अधिकारी, 36. जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक के दूतावास में हिन्दी-परामर्शदाता, 37. इनकी धर्मपत्नी, 38. लेखक इस पत्रिका के प्रधान-सम्पादक थे, 39. कल्चरल अकादमी द्वारा पुरस्कृत, 40. ज० कश्मीर कल्चरल अकादमी के तत्वावधान में प्रकाशित, 41. वही।

प्रो० काशीनाथ द्वारा "कश्यप" मासिक पत्रिका में लिखित सम्पादकीयों (दृष्टि) के तीन नमूने यहां उदधृत किए गए हैं।--सं.

दृष्टि

(क) "वसुधैव कुटुम्बुकम्"

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का यह बोधचिन्ह महामना मालवीय जी के अलौकिक व्यक्तित्व को सच्चे अर्थों में चरितार्थ करता है। भारतीय संस्कृति की यह अनुपम विशेषता है कि यह धर्मगत, जातिगत अथवा प्रदेशगत संकीर्णताओं से ऊपर उठकर विश्व-नागरिक बनने के लिये जन-मन को अनुप्राणित करती आ रही है, और जब महामना महोदय ने अपनी मानसिक सन्तान के ललाट पर यह स्वर्ण-अक्षर अंकित किये तो एक प्रकार से उन्होंने भारतीय संस्कृति की आत्मा का ही प्रतिनिधित्व किया।

आज के इस भौतिक युग में जब पैसे की दौड़ में व्यक्ति आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को उपेक्षित रखने पर विवश है, महामना का यह दिव्यसंदेश है, भारतीयों को पथभ्रष्ट होने से रोकता है। राजनीतिक और अन्य क्षेत्रों में उनका प्रतिदान कितना ही महत्त्वशाली क्यों न हो, परन्तु यह कहना संगत होगा कि उनकी सबसे बड़ी देन वास्तव में सांस्कृतिक नव-चेतना का शंखनाद फूंकना है जो अतीत की पुनरावृति न होकर वर्तमान का उसकी मांगों के अनुसार नवीन संस्करण ही होना चाहिये। विश्वविद्यालय की स्थापना भी इसी समन्वय-भावना का ज्वलन्त उदाहरण है।

आज जब हम इस दिवंगत महान आत्मा की शत-वार्षिकी मना रहे हैं तो हमारा धर्म बन जाता है कि हम उनके इस दिव्यसन्देश को अपना जीवन-दर्शन बना लें, जभी तो हम उनके प्रति ऋण से मुक्त हो सकेंगे।

(ख) हिन्दी-प्रकाशकों का दायित्व

यह बात किसी से लुकी छिपी नहीं कि आजकल का हिन्दी-साहित्यकार अभाव से ग्रसित, समाज से प्रताड़ित और प्रकाशकों से शोषित भाग्यहीन प्राणी है।

उसके उबलते हुए उद्गारों पर उभरते ही प्रोत्साहन के अभाव में ओस पड़ जाती है जिस के फलस्वरूप उसे जीवन के प्रति विद्रोह-भावना पैदा हो जाती है जो उसके वातावरण पर कड़ुवाहट बिखेर देती है, स्वर्गीय निराला जी का करुण-कटु जीवन इस तथ्य की शतशः पुष्टि करता है। उन के महाप्रयाण के बाद पृष्ठों के पृष्ठ काले किये गये, अथाह आंसू बहाये गये परन्तु उन का जीवन जो मृत्यु का ही दूसरा नाम था किसी को आकर्षित न कर सका। वीणावादिनी सरस्वती के इस अनन्य उपासक पर लक्ष्मी की कृपा-दृष्टि न रही। उन के प्रकाशकों ने भले ही उन की कृतियों से हज़ारों कमाये हों, परन्तु उनके प्रति उन्होंने कभी भी उदारता न दिखाई। इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्यकारों के लिये साहित्य-सृजन वास्तव में अभिशाप बन रहा है, यदि यही स्थिति बनी रही तो नयी प्रतिभा की प्रतीक्षा करना दिन में तारे देखने के समान ही होगा।

कुछ दिन हुए महापंडित राहुल जी की रुग्णता का दुखद समाचार भी पढ़ने को मिला, महाप्राण निराला के निधन का घाव अभी भर भी न पाया था कि महापंडित की भीषण व्याधि ने इसे फिर से हरा कर दिया। कुछ वर्ष पहले जब वे सम्मेलन के कार्यालय पर पधारे थे तो उन के स्वस्थ और रक्तिम देह को देख कर इस भयानक रोग की कल्पना स्वप्न में भी नहीं की जा सकती थी। उन का ओजस्वी भाषण मृत-धमनियों में नये लहू का संचार करने में अचूक था। उनकी विद्वता नये क्षितिजों पर मारने के लिए प्रेरणादायक सन्देश थी, वही महा पंडित कलकत्ते के अस्पताल में अर्थाभाव के कारण अपना सुरुचिपूर्ण इलाज करने में असमर्थ हैं, यह असमर्थता समस्त हिन्दी-संसार के लिये चुनौती से कुछ कम नहीं।

'वोल्गा से गंगा' के अमर शोधार्थी का यह संकटाकीर्ण जीवन हिन्दी के प्रकाशकों के मुँह पर एक कड़ी चपत है, साथ ही यह दीनता की पराकाष्ठा भी है कि बहुमुखी प्रतिभा के स्वामी सांसारिक आधारों पर कितना अकिंचन जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस हृदय-विदारक दृष्टान्त से हिन्दी-साहित्यकारों की नई उपज का हतोत्साह होना निश्चित तो नहीं, सम्भव अवश्य है।

अतः हिन्दी के प्रकाशकों से हमारा सप्रेम अनुरोध है कि वे केवल वाणिज्य नियमों के आधार पर ही किसी साहित्यकार की प्रतिभा को न तोलें, पैसों के पलड़े में यदि वे मानवीय पक्ष के थोड़े-बहुत अंश को भी डाल दें तो उन से बढ़ कर साहित्य-सेवी और कोई नहीं हो सकता। समय की मांग

है कि वे इस उदारता को अपनायें, अन्यथा हिन्दी-साहित्य का भावी इतिहासकार उन्हें कभी क्षमा न करेगा।

(ग) जम्मू के साथियों से !!!

पिछले दिनों यह सुखद समाचार पढ़ने को मिला कि राज्य-भर में हिन्दी-प्रचार के महत्कार्य को सुव्यवस्थित ढंग पर चलाने के लिये जम्मू प्रदेश में भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन काश्मीर की शाखा खोले जाने के सम्बन्ध में पहला कदम उठाया गया है। इस के फलस्वरूप वहां पर हिन्दी-प्रेमियों की एक बैठक में इस पुण्य-संकल्प को साकार करने के लिये एक संयोजक का निर्वाचन भी हुआ। संयोजक-पद के लिये श्री लोक नाथ शर्मा एडवोकेट का चुनाव जम्मू निवासियों की परिपक्व सूझ-बूझ का परिचायक है, हमें आशा है कि शर्मा महोदय की अनुभववृद्धता से शीघ्रातिशीघ्र ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन की शाखा जम्मू में भी स्थापित होगी और इस तरह काश्मीर के साथियों और उन की धड़कनें एक बन जायेंगी।

जम्मू के साथियों के लिये हिन्दी प्रचार कोई नया विनोद नहीं। यदि वे अपनी स्मृति के झरोखों को ज़रा खोलने का कष्ट करें तो उन्हें इस बात पर गर्व होना स्वाभाविक ही होगा कि समूचे राज्य का पहला हिन्दी पत्र 'भारती' वहीं से प्रकाशित हुआ था। इस तरह हिन्दी के प्रचार-कार्य में उन्हें स्वत: सिद्ध नेतृत्व भी प्राप्त हुआ। इस के अतिरिक्त वहां के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों ने सदा ही हिन्दी के प्रति अपनी सहज-स्वाभाविक अभिरुचि को क्रियात्मक रूप में अभिव्यक्त भी किया है।

परन्तु दुर्भाग्य से कुछ वर्षों से इस उत्साह पर अज्ञात कारणों से ओस-सी पड़ गई है। हो सकता है कि अपनी प्रादेशिक तथा मातृ-भाषा डोगरी के अभ्युत्थान के लिये वहां के कर्मठ साहित्यकार कुछ समय के लिये हिन्दी के प्रति उपेक्षा-भाव बरतने पर विवश हुए हों। वास्तव में इसे परिस्थितियों का षड्यन्त्र ही कहा जायेगा। डोगरी का अभ्युदय काश्मीरी की ही तरह समूचे राज्य के लिये गौरव की बात हो सकती है, परन्तु हमारा विश्वास है कि इन दोनों की पैबन्द लगा कर हिन्दी-लतिका अधिक सुवासित और पुष्पित हो सकती है। इस प्रकार प्रादेशिक भाषा राष्ट्रभाषा की विरोधी न हो कर उसकी सहायिका बन जाती है। काश्मीर में इस प्रयोग को हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान में आश्चर्यजनक सफलता भी मिली है।

अत: जम्मू के साथियों का यह धर्म बन जाता है कि वे डोगरी के प्रचार के साथ-साथ हिन्दी के प्रति सक्रिय जागरूकता का भी परिचय दें। चिंगारी तो वहां पहले से ही मौजूद है इसे ज्वालारूप में प्रदीप्त करने के लिए वहां काफी नैतिक और आत्मिक बल है, इस में कोई संशय नहीं।

काश्मीर की ओर से मैत्री का हाथ बढ़ाया गया है, हमें विश्वास है कि जम्मू के साहसी साथी इसे सप्रेम थामने में कोई कसर उठा न रखेंगे, जभी तो दोनों प्रदेश एक दूसरे से क़दम मिला कर राष्ट्र-भाषा की अनन्य सेवा में जुट सकेंगे, तथास्तु।

-0-

"चैतन्यमाला"

सातवीं-आठवीं शताब्दी की झुटपुटी संध्या में
जब मननशील कश्मीरी
'शून्यवाद'[1], 'मायावाद'[2] तथा 'भेदाभेद'[3]
की आत्मप्रवंचना में
कुलबुला उठा था अपने व्यक्तित्व को खो रहा था,
तो 'अणु'[4] और 'शिव'[5] के मधुर-सम्बन्ध में
फिर से प्राण फूंकने के निमित्त
आचार्य 'वसुगुप्त'[6] महादेवगिरी[7] की तलहटी में
समाधिस्थ हो गए।
अपने जड़ मन में 'मांगलिक[8] पत्थर, को
बार-बार घुमाकर,
इस का मन्थन करके, आत्म चिन्तन में, विभोर आचार्य ने
'अणु' के अनुग्रह[9] के लिए रहस्य की
थाह पा ली।
'अणु' वस्तुतः पशु है, जन्म-मरण की
आत्मविस्मृत परिधि में,
व्यक्त और अव्यक्त के कुहरे से आच्छादित,
'मोहवश' योनियों की शरण लेता है,
इसी क्रमातिक्रम की भुलैयां में
भटक जाता है।
'अणु' विचार पुञ्ज है, इच्छा-ज्ञान-क्रिया की
त्रिवेणी की लहरें गिनता जाता है,
इसके ज्वार पर नियन्त्रण रखने के लिए
'परासंवित्'[10] का सहारा, शक्ति के माध्यम
की अपेक्षा रखता है।
मन्त्रशक्ति के अभिसिंचन से

उसके मूलाधार में सुप्त 'कुण्डलिनी'[11]
जागकर, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना[12]
के योग से,
'रेचक'[13], 'पूरक'[14] और 'कुम्भक'[15] के समवाय से
'षटदल'[16] तक आरोहण करके
'सहस्रार' का उन्नत शिखर छूकर
पुन: अवरोहन करके
अपने नीड़ में सो जाती है।
यह मानसिक व्यायाम, चिन्तन की कसौटी
पर खरा उतरकर,
'शक्तिपात'[17] की भाव-भूमि संजोता जाता है।
इस तरह 'अणु' सांप-समान केंचुली फेंककर,
'कन्चुको'[18] को फाड़कर, 'शुद्ध विद्या का
साक्षात्कार करता है।
वस्तुत: 'आत्मा' रंगमंच है, 'अन्तरात्मा'
नर्तक है, और प्रेक्षक इन्द्रियां हैं,
इस अभिनय के इन्द्रजाल को
तोड़ने के लिए प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा
ध्यान और समाधि[19] की पंचौषधि
से अपने शारीरिक पंचतत्वों को
धोना अभीष्ट है।
इस दिशा में शरीर और आत्मा का
सामीप्य 'खडग्' और उसके 'कोष' के
समान है,
देखने में भिन्न, वस्तुत: अभिन्न।
शरीर से ऊपर उठकर 'अणु'
'शक्ति' का 'सान्निध्य' पाकर
'शिव' की संज्ञा धारण करता है,
तब मन अड़ियल घोड़े की तरह
रस्सी तोड़कर भागता नहीं,
चिदानन्द में मग्न होकर
सारे जगत को विद्रूप में देखता है।

आचार्य वसुगुप्त ने अपनी इस साधना
का अमृत जन–मानस के कल्याणार्थ,
'रहस्य सम्प्रदाय' का 'विच्छेदन' रोकने
के लिए रख दिया,
'अणु' और 'शिव' के भ्रमात्मक 'भेद'
की मोम–प्राचीर
उनकी तपस्या की आंच से पराभूत होकर
'अभेद' का रूप पा गई,
इसी चैतन्यामात्मा'[20] की संजीवनी
'सिंचन', 'मन्थन', और ग्रहण की त्रिधारा में
फूट कर
आज तक बराबर मानव के चिदाकाश में
"प्रत्यभिज्ञा"[21] के विस्फारात्मक "स्पंदन"
का "उन्मेष", "अहंविमर्श"[22] की
प्रांजल "भित्ति" के संयोग से
करती आ रही है।

* * *

---

1. बौद्धों का, 2. वेदान्त, 3. खेटपाल द्वारा प्रचलित 4. जीव 5. विकसित आत्मचेतना, 6. सर्वप्रथम शैवाचार्य 7. श्रीनगर से कुछ दूर हार्वन के कुछ मील आगे 8. काश्मीरी 'शंकर पल' 9. शिव रूप, 10. विकासोन्मुख आत्म स्वातन्त्रय, 11. सर्पाकार में स्थित आदि शक्ति, 12. तीन नाड़ियां,13. सांस बाहर निकालना, 14. सांस अन्दर लेना, 15. सांस को सन्तुलित रखना, 16. कन्द से ब्रह्रन्ध तक की छः मंजिलें, 17. शिवाकारता से पहली अवस्था, 18. शारीरिक बन्धन,19. मानसिक एकाग्रता के साधन। 20. आचार्य वसुगुप्त प्रगीत 'शिवसूत्र' का पहला सूत्र 21. अपनी पहचान 22. अर्न्तमनक।

इति

रात और दिन के महामिलन में
इस झुटपुटे अन्धेरे में,
जब सूर्य दिन भर थक कर
आंखें मींच रहा है
और रात अपने घुंघराले तिमिर में
प्रकाश के बचे-खुचे अवशेषों को
लीलने के लिये तेजी से
पंख तौल रही है,
मुझे, न जाने अवसाद क्यों घेर लेता है ?
यद्यपि आंखें-मलते तारे आंख-मिचौली करके
मेरा मन हल्का करने का उथला प्रयत्न कर रहे हैं!
परन्तु मुझे यह मालूम है कि
इनकी यह मीठी हँसी वस्तुत:
इनको मसोसते रोदन से परिचित है,
मुग्धा कलियों ने इन्हीं आंसुओं को
मोतियों के धोखे में अपनी
मांग में संजो कर रखा है,
यह पल-भर की नशीली थिरकन
उषा अपने सुनहले आंचल में
समेटने की बाट जोह रही है।
क्या मानव भी इसी प्रकार
हँसने के भ्रम में युग-युग
से रोता आया है?
पाप्र और पुण्य के बीच की दरार
पांटने में असमर्थ
परिस्थिति-वश, दानव अथवा मानव

का मुखौटा पहन कर
बहुरुपिया हो कर
इस दर्दीले नाटक का 'क्षय' होकर
जान-बूझ कर इस की 'इति' से
कतराता रहा है,
आत्म-प्रवंचना की उधार ली गई मिठास से
जीवन की कटुता को भूलने का
निष्फल खेल खेलता आ रहा है।
मगर, 'नेपथ्य' के अनिवार्य इंगित से,
दांतों-तले उंगली दबाकर
न चाहते हुए भी, विवश होकर
परदा गिरने से पहले सबसे
कट कर, आंख बचाकर, टूटकर
भोर का तारा बन कर
आकाश के अथाह महासागर में
डुबकी लगाकर खोजता है,
ऐसे, जैसे संसार उसे कभी
भी न जानता था।
शायद ? यही कचोटता उबाल
मुझे कुरेदती घुटन को
सदा से सींचता आ रहा हैं।

***

Published by the Secretary on behalf of
J&K Academy of Art, Culture & Languages, JAMMU
& *Printed at* **Rohini Printers,** Kot Kishan Chand,
JALANDHAR CITY (Pb.). Ph. : 405428